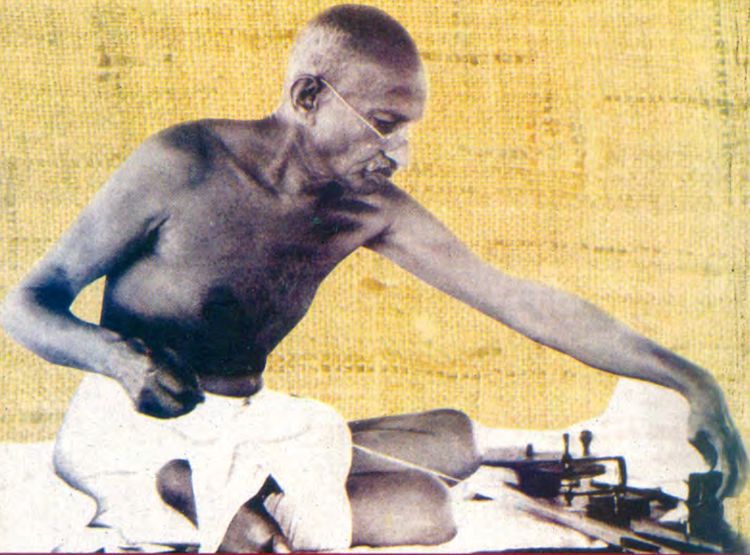


गांधी अर्थ-विचार

डॉ. जे.सी. कुमारप्पा



गांधी अर्थ-विचार

[Gandhian Economic Thought का हिन्दी अनुवाद]

•

लेखक

जो० कॉ० कुमारप्पा

अनुवादक

सुरेशराम

•

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी—२२१ ००१

गांधी अर्थ-विचार

•

लेखक
जो० कॉ० कुमारप्पा

अनुवादक
सुरेशराम

•

संस्करण : चौथा
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : ९,०००
मई, २०१०

•

प्रकाशक
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट,
वाराणसी—२२१ ००१
फोन-फैक्स : ०५४२-२४४०३८५
E-Mail : Sarvodayavns@yahoo.co.in.

•

अक्षर संयोजन
सागर कम्प्यूटर्स, इलाहाबाद

•

मुद्रक :
सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कॉलोनी
मलदहिया, वाराणसी—२२१ ००२

•

मूल्य : **बीस रुपये**

GANDHI ARTHA-VICHAR

•

J.C. Kumarappa

•

Price : Rs. 20.00

प्रकाशकीय

यथा नाम तथा गुण की तरह आचार्य जो० का० कुमारप्पा द्वारा रचित 'गांधियन इकोनामिक थाट' का यह हिन्दी अनुवाद 'गांधी अर्थ-विचार' के रूप में सुविज्ञ पाठकों के लिए प्रकाशित करते हुए हर्ष हो रहा है।

आशा और विश्वास है कि पूर्व संस्करणों की तरह यह संस्करण भी लोकप्रिय साबित होगा।

●

भूमिका

महात्माजी कहा करते थे कि दुनिया के धर्म-ग्रंथ ही इंसान के लिए सबसे अच्छे और जोरदार अर्थशास्त्र भी हैं। लेकिन आजकल की विद्या या ज्ञान की रोशनी जिन्हें मिली है या मिलती है, उन्हें इस चीज से संतोष नहीं होता। वे तो उसी चीज को शास्त्र मानेंगे, जो उन्हीं की बोली में कहा या लिखा जाये। महात्माजी ने अपने जीवन से धर्म-ग्रंथों वाले अर्थशास्त्र को सिद्ध किया। लेकिन यह शास्त्र लिखने का काम उनका नहीं था। यह दूसरों को ही करना पड़ता है। आचार्य जो० कॉ० कुमारप्पा ने महात्माजी के जीवन-काल में ही यह काम कामयाबी के साथ उठा लिया था। अपने लेखों, व्याख्यानों और पुस्तकों से उन्होंने इस धर्मशास्त्र की इमारत की बुनियादें सही-सलामत रूप से खड़ी कर दी हैं। इसी का नतीजा है कि जहाँ और अर्थशास्त्र माने जाते हैं, वहाँ गांधी-अर्थशास्त्र भी टक्कर की चीज गिनी जाती है।

लेकिन गांधी-अर्थशास्त्र क्या है, इसका स्वरूप कैसा है—यह बात साफ तौर से किताबी ढंग में सामने नहीं आयी थी। इसलिए जब बम्बई के नामी अर्थशास्त्री प्रोफेसर सी० एन० वकील ने, जो बम्बई यूनिवर्सिटी के स्कूल ऑफ एकॉनॉमिक्स एण्ड सोशियालॉजी के डाइरेक्टर थे, श्री कुमारप्पाजी से इसके पेश करने के लिए अपील की, तो उन्होंने खुशी से मंजूर किया। इस तरह यह किताब 'गांधियन एकॉनॉमिक थॉट' लिखी गयी, जो आज 'गांधी अर्थ-विचार' के नाम से हिन्दी जगत् में आ रही है। जैसा इस किताब के शुरू में ही कहा गया है, गांधीजी के अर्थशास्त्र के उसूल नाम की कोई चीज ही नहीं है, गांधीजी के लिए तो अर्थशास्त्र जीवन के एक तौर-तरीके का हिस्सा है और सिर्फ दो जीवन-उसूल हैं, जिनके मातहत गांधीजी के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और दूसरे सभी ख्यालात रहा करते हैं—इसको गांधी-अर्थशास्त्र नाम न देकर 'गांधी अर्थ-विचार' नाम दिया गया है।

कहने की जरूरत नहीं कि आज इस विचार के सही शक्ल में सामने आने की सख्त जरूरत थी, खासकर यूँ भी, जब देश की आर्थिक हालत सुधारने के बारे में तरह-तरह की योजनाएँ चल रही हैं और क्या सरकारी, क्या गैरसरकारी, इसके लिए अनगिनत कदम उठाये जा रहे हैं, जिनमें

लाखों-करोड़ों रुपया-पैसा और बेइन्तहां शक्ति का खर्च हो रहा है। प्रोफेसर वकील ने मूल अंग्रेजी किताब की भूमिका में लिखा है :

"जहाँ तक आर्थिक विकास की बात है, हमारे ऊपर असर दो चीजों का पड़ता है, एक तो पच्छिमी विचारों का और दूसरे गांधीजी के आर्थिक विचारों का, जो हमारे हुक्कामों के धर्म का हिस्सा-सा बन गये हैं। लेकिन इन दोनों नजरियों को ठीक से न बैठाने का नतीजा यह हुआ है कि अक्सर हम यह देखते हैं कि एक के ऊपर बिना किसी तुक के दूसरा थोप दिया जाता है। देश को इन दो में से—पच्छिम में बढ़ी-पनपी वेलफेयर स्टेट की कल्पना और गांधीजी के विचारों से निकलनेवाली आर्थिक जीवन की कल्पना—एक को पसंद करना पड़ेगा और जितनी जल्दी वह यह कर ले, उतना बेहतर है। यह भले मुमकिन हो कि पहली कल्पना में दूसरे के असर से कुछ रद्दोबदल कर लिया जाय। लेकिन यह जाहिर है कि दोनों कल्पनाओं का तर्ज एकदम अलग है और उन्हें आसानी से मिलाया नहीं जा सकता। लेखक ने इस किताब में जो कहा है, उस सबसे हम सहमत नहीं हैं। सच्ची बात यह है कि इसमें बहुत-सी चीजें ऐसी हैं, जिन पर हमारी राय दूसरी है। लेकिन महत्व की चीज यह है कि हमारे मौजूदा सवालों के हल करने में इन विचारों से कहाँ तक और किस तरह मदद ली जा सकती है और हमारी सरकार की नीति पर वह क्या असर डाल सकते हैं। हमें उम्मीद है कि देश के अन्दर के आर्थिक मतमतान्तर के जलवायु को ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिए डॉ० कुमारप्पा की इस कोशिश से बहुत काफी मदद मिलेगी।"

प्रोफेसर वकील ने दो-टूक बात कही है कि हमें—उनका मतलब हिन्द सरकार और उसकी शाखा सरकारों से है—यह तय कर लेना चाहिए कि देश को गांधीजी के रास्ते पर से चलना है या पच्छिम के रास्ते पर। इस चीज में टालमटोल करने की वजह से आज सरकार और जनता के बीच एक खाई बन गई है, जो लगातार चौड़ी होती जाती है। आचार्य कुमारप्पाजी ने इस किताब में साफ-साफ कहा है कि गांधीजी के विचारों, यानी सत्य और अहिंसा के आधार पर खड़ी होनेवाली कल्पना ही हिन्दुस्तान में टिक सकती है और देश को डूबने से बचा सकती है।

इलाहाबाद —सुरेशराम

29-10-'51

अनुक्रम

गांधी-अर्थनीति की बुनियाद : 1 :

अगर कोई यह पूछे कि गांधीवाला जो अर्थशास्त्र है, उसके क्या उसूल हैं, तो हम यही कहेंगे कि ऐसी कोई चीज ही नहीं है। गांधीजी के लिए तो अर्थशास्त्र जीवन के एक तौर-तरीके का हिस्सा है। अर्थशास्त्र पर लिखी जानेवाली किताबों में जो आम कायदे-कानून बताये जाते हैं, वे किन्हीं उसूलों के मातहत होते हैं। लेकिन गांधी अर्थ-विचार में ऐसा भी नहीं होता। सिर्फ दो जीवन उसूल हैं, जिनके मातहत गांधीजी के आर्थिक, सामाजिक, राजकीय और दूसरे सभी ख्यालात रहा करते हैं। वे हैं सत्य और अहिंसा। इन दो कसौटियों पर मानो जो चीज खरी नहीं उतरी, उसे गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। अगर चीजों की कोई सूरत ऐसी बन जाती है कि उससे हिंसा पैदा हो या उसमें झूठ की जरूरत पड़ जाय, तो हम उसे गैर-गांधीवादी कह सकते हैं।

इन दो उसूलों को हम लें और जीवन के हर पहलू में इन्हें लगाकर यह देखें कि कहाँ सत्य है, कहाँ अहिंसा पैदा की जा सकती है। अगर किसी वक्त यह मकसद हासिल न होते हों, तो उन रास्तों को छोड़ देना चाहिए।

सबसे पहले हम यह विचार करेंगे कि गरज या मन्शा कितनी तरह की होती हैं। इसके बाद इन्सानी खान्दान के मेम्बरों की आपस की नातेदारी पर विचार करेंगे और आखिर में तरह-तरह के कुदरती साधनों पर। फिर इसके बाद यह देखेंगे कि अपने रोजाना के जीवन में इन चीजों का मेल कैसे बैठाया जा सकता है।

गरज

अगर हम इन्सानी खान्दान को लें, तो अपने नजरिये के मुताबिक हम इसे पाँच अलग जातों में बाँट सकते हैं। यह चीज हमें जानवरों की मामूली जिन्दगी में भी मिलती है। मिसाल के तौर पर चीते को लीजिये, जो सबमें ज्यादा हिंसक और बेरहम है। यह अपनी माली जिन्दगी के लिए क्या किया करता है? अपना खाना कैसे पाता है? जानवरों को या जो मिल जाये, उसे मार-मारकर खाया करता है। चीता कुछ पैदा नहीं करता, पैदावार के काम में रत्तीभर मदद नहीं पहुँचाता, लेकिन बगैर पैदा किये सर्फ कर डालता है।

यह नमूना है खर्च बिना पैदावार का। और चीता रहता कहाँ है? पहाड़ियों में, गुफाओं में, खन्दकों में। इसलिए जहाँ तक चीते के खाने का वास्ता है, वह आदमखोर है और इसके रहने-सहने का ढंग लुटेरू है।

बन्दर को लीजिये। यह अपनी खुराक कैसे पाता है? इधर-उधर यह फल तोड़ा, यह पत्ती ली, वह ली, यह लिया, वह लिया, यानी लूट मचाता है। बन्दर अपनी खुराक देनेवाले साधन को खत्म नहीं कर डालता, लेकिन जो मयस्सर होता है, उसे ले लेता है। चीते और बन्दर की मिसालों से दो रास्ते साफ समझ में आ जाते हैं। दोनों ही बिना कुछ पैदा किये खर्च करते हैं और जो सामने पड़ गया, उस पर गुजर करते हैं। जरा दूर तक देखें, तो पता चलेगा कि दोनों की एक-सी हालत है, लेकिन जब यह सवाल आता है कि हिंसा कितनी हो रही है, तो दोनों में फर्क मालूम पड़ता है। चीता बन्दर के मुकाबले कहीं ज्यादा हिंसक है। बन्दर अपनी खुराक के साधन को तबाह नहीं कर डालता। एक आदमखोर है, दूसरा लुटेरा। दोनों खुदखुरे हैं। अपना फर्ज निभाने का उन्हें कोई माद्दा नहीं है। वे केवल अपनी भूख-लालच और खुदखुरी के तौर पर—जिनकी बुनियाद हक या अधिकार पर है—सोच सकते हैं।

अब हम तीसरी हालत पर आते हैं, जिसमें फर्ज और हक का समतोल है। इसको हम 'कारोबारी सूरत' कह सकते हैं। इसमें आप पैदा करते हैं और फिर खर्च करते हैं। घरों के अन्दर छोटी-छोटी चिड़ियों के घोंसलों को देखिये। अपनी चोंच से वह तिनके, फूस, रूई वगैरह जमा करके घोंसले बनाती हैं। चीता गुफा में रहता है, लेकिन चिड़िया अपना घोंसला बनाकर रहती है। वह घोंसला ऐसी जगह बनाती है, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। मेहनत और दूरंदेशी से तैयार की हुई पनाहगाह में उसे मजा आता है। यह हुआ पैदा करके खर्च करना। चिड़िया निजी माल का हक बरतती है। क्योंकि अगर दूसरी चिड़िया आये, तो वह चोंच मारकर उसे भगा देगी। इसमें हक और फर्ज मिले हुए हैं।

चौथी सूरत गिरोहबन्दी की है, जिसमें शहद की मक्खी आती है। वह शहद किस तरह जमा करती है? उसे वह लाकर छत्ते में भर देगी। वह यह नहीं कहती कि छत्ते में कोई खास छेद मेरा है। सारे गिरोह के फायदे, के लिए वह जमा करती है। जब एक मक्खी शहद लाती है, तो छत्ते में लाकर उसे रख देती है और सब मक्खियों के इस्तेमाल के लिए छोड़ देती है। वह

अपने निजी खर्च के लिए नहीं, बल्कि सबके खर्च के लिए पैदा करती है। सारी मक्खियाँ एक खानदान की तरह रहती हैं। इसमें हक के जजबे के बजाय फर्ज का जजबा ज्यादा तगड़ा है। पैदावार खर्च से ज्यादा है और बचत सबके काम आती है।

इसके बाद पाँचवीं सूरत। हमने ऊपर घोंसले बनानेवाली चिड़िया की चर्चा की है। मान लीजिये, उसको एक बच्चा हुआ। सुबह को वह निकल पड़ी, अनाज के दाने वगैरह जो मिले, सो जमा कर लाती है और लाकर अपने बच्चे को खिलाती है। वह यह नहीं कहती कि चीज मेरी लायी हुई है, इसलिए उसे निगल जाने का मुझे ही हक है। वह उसे बच्चे के पास ले जाकर उसे खुद खिलाती है। क्या वह यह सोचती है कि बड़ी होने पर यह मुनिया मुझ बूढ़ी माँ को खिलायेगी? नहीं, ऐसी कोई चीज नहीं है। वह जो देती है, उसे वापस पाने का कोई ख्याल उसे नहीं होता। वह यह सब अपने फर्ज की बिना पर करतीं है। इसको हम माँ-अर्थनीति या सेवा-अर्थनीति कह सकते हैं।

आर्थिक सरगर्मियों के विचार को हम इन पाँच तरह की सूरतों से जाहिर कर सकते हैं—आदमखोर, लुटेरा, कारोबारी, गिरोहबन्द और सेवा। इन सबके उसूल अलग-अलग हैं। आदमखोरों में खुदखुरी और हक का बोलबाला है और बिना पैदा किये खर्च किया जाता है। दूसरी सूरत में भी यही बात है, पह हिंसा कम है। तीसरी में पैदावार और खर्च दोनों हैं। चौथी—गिरोहबन्दी—में खर्च कम, पैदावार ज्यादा और पाँचवीं में सेवा ही सेवा, जिसमें इनाम का कोई ख्याल ही नहीं है।

इन्सानी समाज में भी पैदावार और खर्च के यही तरीके हमें मिलते हैं। **चोर और डाकू समाज के आदमखोर हैं,** क्योंकि वे आदमियों को मार डालते हैं और दौलत पैदा करने के लिए कुछ काम किये बिना जो चाहते हैं, पा जाते हैं। सड़क पर कोई बच्चा जा रहा है, एक आदमी उधर से गुजरा, उसका सिर काटा और बदन से जेवर उतारकर चम्पत। यह समाज के आदमखोर हैं।

लुटेरे—फर्ज कीजिये, आप रेल का टिकट खरीदने गये। आप कतार लगाकर खड़े हैं। पीछे से कोई आया और—आप तो सामने खिड़की की तरफ देख रहे हैं—उसने चुपके से आपकी जेब में से बटुआ निकाला और

नौ दो ग्यारह। यह लुटेरों का काम है। लुटेरा इसी फिराक में रहता है कि उसकी हवाभर भी किसी को न लगे। लुटेरेपन की अच्छी मिसाल पाकिटमारों से दी जा सकती है।

कारोबारी सूरतवालों में अच्छी मिसाल किसानों की है। वे जमीन जोतते हैं, बीज बोते हैं, सख्त मेहनत करते और अपनी मेहनत का खाते हैं। इन्सान जब हैवानियत के दायरे से निकला, तो उसने खेती पहले पकड़ी। इस हालत में वह अपने हक और फर्ज दोनों समझता है और दोनों का ताल रहता है। इसी को हम सभ्यता का सबेरा कह सकते हैं। पहलेवाली दोनों जंगली सूरतें हैं। कारोबारी सूरत होने पर सभ्यता शुरू होती है।

गिरोहबन्द अर्थनीति की मिसाल है—मिला-जुला हिन्दू परिवार। एक भाई केवल अपने लिए ही नहीं, सारे खानदान के लिए काम करता है। एक व्यक्ति काम तो करता है, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि चूँकि मैंने खुद काम किया है, इसलिए कमाई या दौलत मेरी है। इसमें एकता का भाव रहता है और एक गिरोह के लिए काम करने का जजबा रहता है।

सेवा-अर्थनीति—इसकी सबसे अच्छी मिसाल माँ है। माँ बच्चे के लिए काम करती है, लेकिन वह किसी इनाम की तमन्ना नहीं करती—सेवा ही उसका इनाम है।

इसी तरह से यह भेद हमें अपने जीवन में, सरकार में, राष्ट्रों वगैरह में मिलते हैं।

जीवन के आधार तरह-तरह के होते हैं। वह जीवन जिसका आधार दूसरे लोगों की जान ले लेना या उनके हकों को मारना हो—जैसा साम्राज्यशाही में होता है—जंगली अर्थनीति है। इस नीति से दूसरे मुल्क दबा लिये जाते हैं और ताकतवर मुल्क या दल कमजोरों के ऊपर बैठकर उन्हें चूसा करते हैं। यह आदमखोर अर्थनीति है।

(1) राजकाजी तौर पर हिन्दुस्तान अंग्रेजों का गुलाम था। यह आदमखोर अर्थनीति की मिसाल है।

(2) दूसरों पर आर्थिक दबाव डालना—अमेरिका का जगह-जगह दखल देना लुटेरी अर्थनीति की मिसाल है।

(3) कारोबारी अर्थनीति—पुराने जमाने में हमारे देश में जो खेती-अर्थनीति पर अमल किया गया है, वह कारोबारी अर्थ-नीति की मिसाल है। यह स्वावलम्बी अर्थनीति है।

(4) गिरोहबन्द अर्थनीति—इस अर्थनीति में बहुत हद तक सोवियत रूस और नाजी जर्मनी आ जाते हैं।

(5) इतिहास में हमको सेवा-अर्थनीति की मिसाल नहीं मिलती। मगर गांधीजी की कोशिश उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने की थी।

ये पाँचों सूरतें हमारे निज के रोजाना के काम में भी मिलती हैं। दूसरों पर हँसना आसान होता है, लेकिन जब हम अपने गरेबान में मुँह डालकर देखें, तो पता चलेगा कि हम खुद कभी तो चीते की तरह व्यवहार करते हैं, कभी बन्दर की तरह, कभी कैसे, कभी कैसे। जब हम फूहड़पन से खाते हैं और तरह-तरह की चीजें फेंकते जाते हैं, तब हम चीते की जात में आते हैं। हर रोज रात को हमें चाहिए कि अपने से पूछें कि दिन में कितनी बार हमने चीते की तरह बर्ताव किया, कितनी बार कैसा। और अगर जवाब में यह मालूम हो कि हमारा झुकाव लगातार माँ वाली सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ रहा है, तो यह समझना चाहिए कि हम सभ्यता की तरफ जा रहे हैं, वरना यह समझना चाहिए कि हम जंगलीपन की तरफ ही बढ़ रहे हैं।

हमने जो यह खुलासा दिया है, कोई नयी चीज नहीं है, क्योंकि समाज के हिन्दू ढाँचे में यह चीज मिलती ही है। इसमें म्लेच्छ, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण हुआ करते हैं। अगर आपकी तबीयत अपने भाई-बन्दों की मदद करने की होती है, फिर चाहे आप जन्म से म्लेच्छ ही क्यों न हों, आप ब्राह्मण गिरोह के ठहराये जायेंगे। अगर आप जन्म के ब्राह्मण हैं और सरकारी नौकरी कर रहे हैं, तो जो मोटी तलब आपको मिल रही है, उसकी वजह से आप असल में म्लेच्छ बन जाते हैं। म्लेच्छ चीतेवाली हालत पर हैं, शूद्र लुटेरेवाली पर, जो वैश्य ईमान से काम करते हैं, कारोबारीवाली पर। लेकिन जो वैश्य गलत नाप-तोल करते हैं, वे चीतेवाली हालत के हैं। मिलवाले भी चीते जैसे हैं। अगर हम अपने समाज को इन पाँच मोटे-मोटे भेदों में बाँट लें, जिनका आधार काम से है, न कि जन्म से, तो यह बहुत मुमकिन है कि एक म्लेच्छ समाज की सेवा करते-करते ब्राह्मण बन जायें। गाँधीजी की योजना यही थी कि इन्सान को कदम-कदम पर म्लेच्छवाली हालत से हटाकर ब्राह्मणवाली हालत पर ले जायें। एक आदमी की नैतिक और जिस्मानी तरक्की जितनी ज्यादा होगी, उसी लिहाज से वह इस तरफ बढ़ेगा। यही तालीम का मकसद है। जब हम ऐसी हालत पर पहुँच जायें कि हक रह ही न जाये और उनकी जगह फर्जभर हो, तब हम ब्राह्मणपन या सेवा-अर्थनीति पर पहुँचते हैं।

कुदरती साधन

अब हम कुदरती साधनों के इस्तेमाल के सवाल पर आते हैं। इन साधनों के बारे में भी यह बात सही है कि जैसे-जैसे हम चीता-अर्थनीति से सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ते जाते हैं, हिंसा की मात्रा कम होती जाती है। यही वह तरीका है, जिससे अहिंसा को बढ़ाया जा सकता है।

कुदरती साधनों को हम दो हिस्सों में बाँट सकते हैं—एक तो वह, जो कभी खत्म ही नहीं होते, जैसे नदी या दरिया में पानी का बहाव। नदी में से बाल्टीभर पानी निकाल लेने पर नदी की सतह वैसी की वैसी ही रहती है। हिसाब क्री नजर से और बहुत बारीकी से देखें, तो सतह जरूर कुछ कम होती है, लेकिन अमली तौर पर कम नहीं होती। वह जो गढ़ा बनता है, उसकी जगह भरने के लिए फौरन ही कुछ पानी आ जाता है। लेकिन जब एक गिलास में से थोड़ा सा पानी पीते हैं, तो सतह गिर जाती है। ऐसा क्यों? पहली सूरत में पूर्ति की किसी कदर कोई हद नहीं है और दूसरी सूरत में पूर्ति की हद बनी हुई है। इनको हम दरियाई अर्थनीति और तालाबी अर्थ-नीति के नाम से पुकार सकते हैं।

इस तरह से हम सारी गांधी-अर्थनीति का अन्दाज इस चीज से लगा सकते हैं कि अपने कामों में हम तालाबी अर्थनीति बरतते हैं या दरियाई। और फिर यह देखें कि इसमें हिंसा या अहिंसा कितनी पैदा हो रही है या पैदा हो सकती है।

जब चीजों की पूर्ति कम है, तो उसको लेने की होड़ में हिंसा पैदा होगी। इसलिए अगर हमारा आर्थिक संगठन ऐसा है कि तालाबी अर्थनीतिवाले साधनों का ज्यादा सहारा लेना पड़ता है, तो हिंसा ही बढ़ेगी। लोहा ज्यादा तादाद में नहीं मिलता है। यह तालाबी अर्थनीति में आता है। अगर हम समाज में अहिंसा फैलाना चाहते हैं, तो लोहे का इस्तेमाल कम होना चाहिए और लकड़ी का ज्यादा, जो दरियाई अर्थनीति में आती है। पेट्रोल तालाबी अर्थनीति में है। जैसे-जैसे यह कम होता जाता है, इसके इस्तेमाल से झगड़े पैदा होते जाते हैं। आज हमारे समाज में जो हिंसा बढ़ रही है, उसकी वजह यही है, कि देश के देश दरियाई अर्थनीति को छोड़कर तालाबी अर्थनीति की तरफ जा रहे हैं। पेट्रोल की तरह कोयला भी तालाबी अर्थनीति में है। घोड़ा, बैल और गाय दरियाई अर्थनीति में आते हैं। जब इंग्लैण्ड घोड़ा अर्थनीति पर चलता था, तो वहाँ के लोग घोड़े से हल चलाते थे, घोड़े से

ढुलाई का काम करते थे। उस वक्त वहाँ पर हिंसा आज के मुकाबले बहुत कम थी। औद्योगिक क्रान्ति के पहले अंग्रेज लोग सिर्फ रसोई बनाने के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। भाप की ताकत के आने पर कोयला इंग्लैण्ड की अर्थनीति का सहारा बन गया और इस तरह इंग्लैण्ड ने दरियाई अर्थनीति की जगह तालाबी अर्थनीति अपनानी शुरू कर दी। इसी का नतीजा है कि डेढ़ सौ बरसों से इंग्लैण्ड में हिंसा बढ़ रही है।

हिन्दुस्तान में गाय को एक पवित्र जानवर समझा गया है, क्योंकि वह हमारी अर्थनीति का केन्द्र है। इसी वजह से उसे बढ़ा-चढ़ाकर इतनी ऊँची पदवी दी गयी है। ट्रैक्टर की खेती तालाबी अर्थनीति की श्रेणी में आती है। यह लोहे और इस्पात से बनता है और इसे चलाने के लिए पेट्रोल या तेल की जरूरत पड़ती है। चीजों को पैदा करने के लिए जो भी हथियार या औजार हम इस्तेमाल करेंगे, उनसे आखिर में हिंसा या अहिंसा उसी मात्रा में पैदा होगी, जिस मात्रा में हम तालाबी या दरियाई अर्थनीति को अपनायेंगे।

चरखा दरियाई अर्थनीति में आता है, लेकिन कपड़े की मिल तालाबी अर्थनीति में।

गरमीवाली बिजली का इस्तेमाल तो सोलह आने तालाबी अर्थनीति है। पानीवाली बिजली भी ज्यादातर तालाबी अर्थनीति है, उसमें पहिया भर पानी की ताकत से चलता है। पानीवाली बिजली की योजना में ज्यादातर खर्च सरंजाम व मशीनरी में बैठता है और इसलिए वह बहुत हद तक तालाबी अर्थनीति में है। इस तरह कुल मिलाकर देखें, तो यही कहना पड़ेगा कि बिजली के इस्तेमाल को तालाबी अर्थनीति में शामिल करना चाहिए।

छप्पर या फूस की छतवाली मिट्टी की झोपड़ी दरियाई अर्थनीति में है। सीमेंट और पक्के माल से बनी इमारतें तालाबी अर्थ नीति में आती हैं। दरियाई अर्थनीति स्थायी चीज है, क्योंकि इसमें कोई होड़ नहीं मचती, जिससे हिंसा या मारकाट पैदा हो, लेकिन तालाबी अर्थनीति स्थायी नहीं है।

खेती में काम आनेवाला हमारा मामूली हल दरियाई अर्थ नीति में है। माना कि इसमें थोड़ा-सा लोहा लगता है, लेकिन लोहे का इस्तेमाल हम उसी मिकदार में कर सकते हैं, जिसमें वह कुदरत से मिलता है। मिट्टी के झोंपड़ों में लोहे की कीलें लगा सकते हैं। हमारी मन्शा सिर्फ यह है कि तालाबी अर्थनीति का इस्तेमाल जिस तादाद में इन्तहाई दरजे को बढ़ जाता है, उसी हिसाब से समाज में हिंसा भी बढ़ जाती है।

अपने समाज का ढाँचा खड़ा करने में हम दरियाई अर्थनीति की जितनी ज्यादा मदद लेंगे, हिंसा उतनी ही कम होगी। लेकिन तालाबी अर्थनीति का जितना ज्यादा सहारा लेंगे, हिंसा उतनी ही बढ़ेगी।

पैदावार

जरूरतें दो तरह की होती हैं—बुनियादी (असली) और ऊपरी (मसनूई)। बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए जितनी ज्यादा चीजें पैदा की जायेंगी, हिंसा उतनी ही काम होगी। ऐश-आराम की यानी ऊपरी जरूरत की जितनी ज्यादा चीजें पैदा की जायेंगी, हिंसा उतनी ही बढ़ेगी। अगर एक तरफ लोगों को भूखों मारें और दूसरी तरफ ऐश-आराम का सामान तैयार करते रहें, तो हिंसा पैदा होगी। अनाज जैसी बुनियादी जरूरत की चीज की जगह तम्बाकू जैसी ऊपरी जरूरत की चीज पैदा करने का यह लाजिमी नतीजा होगा कि हिंसा का पलड़ा भारी पड़े। आर्थिक संगठन के रूप को देखकर यह आम तौर से बताया जा सकता है कि उस संगठन से हिंसा पैदा होगी या उससे लोगों को अमन-शान्ति और खुशहाली मिलेगी। हम तो यह चाहते हैं कि सत्य और अहिंसा की तरफ ले जानेवाले उसूलों पर (गांधी अर्थनीति में नैतिक बातों का लिहाज करना पड़ेगा, यह हम मानकर चल रहे हैं) तेजी के साथ अमल किया जाये। बुनियादी जरूरत की चीजें ज्यादा और ऐश-आराम की कम पैदा करने से अहिंसा के फैलने की संभावना ज्यादा है। अगर हमें अपने समाज के अन्दर सत्य और अहिंसा फैला देना है, तो इन उसूलों का हमें खयाल रखना होगा और इन्हीं की बिना पर काम करना होगा।

पैदावार के तरीके

चीजें पैदा करने के दो जुदा-जुदा तरीके होते हैं। हम इन दो तरीकों में से किसी एक से उन्हें पैदा कर सकते हैं। जैसा तरीका अपनायेंगे, उसी लिहाज से उसूल भी जुदा-जुदा होंगे। हम पहले पैदावार पर विचार करेंगे और खर्च पर बाद में करेंगे। मान लीजिये, माँ अपने बच्चों के लिए कुछ बना रही है, तो वह कैसे क्या करती है? उसका मकसद क्या है और उस चीज के तैयार करने का उसका तरीका किसी दूसरे तरीके से कितना जुदा है? फर्ज कीजिये, उसे हलुवा बनाना है। तो वह कैसे क्या करेगी? समझदार माँ यह करेगी कि अच्छा गेहूँ लेकर उसे खुद चक्की पर बारीक पीस लेगी, ताकि आटा समूचा बना रहे, वह न उस पर पॉलिश करेगी और न कोई

दूसरा पोषण तत्त्व इसमें से निकालेगी। दूसरे मानों में, जो कुछ भी गेहूँ में है, उसे वह सुरक्षित रखेगी। फिर अगर उसके पास अपनी गाय है, तो उसके दूध से बनाये दही को खुद मथकर मक्खन या घी बनायेगी। चक्की चलाना मुश्किल काम है और घी बनाना एक मुसीबत। वह बाजार से वनस्पति या सस्ता घी क्यों नहीं खरीद लेती? वह यह सब तकलीफ इस वजह से बर्दाश्त करती है कि उसका मकसद है अपने बच्चों की परवरिश करना। उसे अपने बच्चों की भलाई में बहुत जबरदस्त दिलचस्पी है। जब वह यह देखती है कि मेरे बच्चों को इससे फायदा पहुँचता है, तो वह सारी मेहनत पूरी तरह वसूल समझती है। वह यह सब फर्ज और प्रेम के भाव से करती है। अगर वह होशियार माँ है, तो खुराक के बारे में कुछ जानकारी हासिल कर लेगी और यह समझ लेगी कि इन चीजों को कैसे तैयार किया जाये, जिससे उनकी खुराक-मान बरबाद न हो। उसे यह सन्तोष रहा है कि बच्चों के लिए जो कुछ ज्यादा-से ज्यादा मैं कर सकती थी, मैंने किया। इसका नाम है इस्तेमाल की खातिर पैदावार।

हलुवा दूसरे लोग भी पकाते हैं, सिर्फ माँ ने इस काम को करने का एकाधिकार थोड़े ही लिया है। हलवाई भी यह काम करता है। उसका मकसद क्या होता है? यह जरूर है कि उसका मकसद यह है कि कुछ चीज वह पैदा करे; लेकिन उसका असली मकसद उन चीजों का पैदा करना नहीं होता, बल्कि यह कि ग्राहक की जेब में जो पैसा है, वह मेरी जेब में आ जाय और इस चालान की कामयाबी के लिए वह आसान से आसान रास्ता ढूँढ़ता है। इसलिए वह सब तरह की हरकतें करेगा। जितना कम खर्च हो, उतना ही उसका फायदा। वह इस बात का पता लगायेगा कि सस्ता आटा कहाँ मिलेगा, चाहे वह घुनों के खाये गेहूँ का ही क्यों न हो और जो कम-से-कम दाम पर मशीन पर पीसा गया हो। वह पता लगायेगा कि सस्ती-से-सस्ती किस्म का तेल या नाम का घी या कुछ दूसरी मिलावट की चीजें कहाँ मिलेंगी। अगर हलुवे की सुगन्ध ठीक नहीं है, तो कुछ गुलाबजल छिड़क लेता है या कोई रंग मिला देता है, ताकि वह देखने में खुशनुमा मालूम हो। उसके गंध और रंग मिला देने से ऐसी खुशबू आने लगती है कि दूसरी गंधें उड़ जाती हैं। इस हलुवे को जो खायेगा, उसे दस्त आये बिना नहीं रहेंगे। लेकिन हलवाई को इससे क्या मतलब? शायद इस तरह कुछ पैसा ग्राहक की गाँठ से डॉक्टर के पास भी पहुँच जाये। इसका नाम है व्यापार के लिए कारखाने चलाना या पैदावार करना।

यह कुदरती बात है कि हर काम की छाप उसके करनेवाले और उसकी शख्सियत पर पड़ती है। जो आदमी जहाँ तक तरक्की करता है, वह अपने ही काम से करता है। महज रेडियो का बटन घुमा देने से कोई संगीत नहीं सीख सकता। इसके लिए तो उसे बैठकर किसी बाजे पर अभ्यास करना पड़ेगा, इतना अभ्यास करना पड़ेगा कि उसके पड़ोसी भी ऊब जायें। उँगलियों के पुट्ठे और आँख व कान की नसों को, सबको एक तार में काम करना पड़ेगा। इसी अभ्यास से कोई संगीतज्ञ बनता है, केवल रेडियो सुनने से नहीं।

हर काम का अपना जवाबी असर या अमल होता है। इस तरह हलुवा पकाने के इन दो तरीकों का भी जवाबी असर होता है। इसका असर माँ पर क्या पड़ता है? खुराक के बारे में उसकी जबरदस्त जानकारी का नतीजा यह होगा कि वह जिस्म और उसकी जरूरतों के बारे में खूब अच्छी तरह सब समझती-बूझती होगी और वह जो यह करती है, तो अपने बच्चों के प्यार की खातिर करती है और इसी वजह से वह एक अच्छी माँ या औरत बनती है।

जहाँ तक हलवाई की बात है, वह कम-से-कम देना और ज्यादा-से-ज्यादा लेना चाहता है। दूसरे लफ्जों में इसे डकैती कहते हैं। जो आदमी जितना ज्यादा मुनाफा कमा ले, उतना ही ज्यादा कामयाब व्यापारी या पूँजीपति समझा जाता है। बढ़ते-बढ़ते यह चीज इस हद को पहुँचती है कि आदमी को खत्म ही कर डाला और जो कुछ उसके पास था, उसे खसोटकर रुपये पर सोलह आने बचा लिये। यह अच्छी तरह किया जा सकता है। पेशे के तौर पर करने से यह डकैती की शक्ल बन जाती है। यह वही जहनियत है, जो हलुवा बनानेवाले हलवाई में होती है, जिससे लालच और गैर-जिम्मेदारी बढ़ती है। नतीजा यह होता है कि समाज में आदमखोर लोग पैदा होते हैं, जो एक-दूसरे को लूटा करते हैं। बड़े या कौमी पैमाने पर जब यह चीज की जाती है, तो विश्वव्यापी लड़ाई खड़ी हो जाती है। मिठाईवाले अर्थशास्त्र से झूठी शान व नाम और हिंसा पैदा होती है, लेकिन पैदावार के माँ वाले तरीके उसके अन्दर प्रेम व सचाई बढ़ाते हैं, हालाँकि मेहनत ज्यादा पड़ती है।

एक कारखानेवाला जहाँ व्यापार के लिए पैदा करता है, वहाँ माँ घर के खर्च के लिए पैदा करती है। माँ के काम का आधार स्वावलम्बी अर्थनीति है। लेकिन जब हम महाजनी अर्थनीति पर चलते हैं, तो हम हलवाई की तरह व्यवहार करने लग जाते हैं और आखिर में डकैत बन जाते हैं।

महाजनी और व्यापार

अगर बाजार में ऐसी चीजें पहुँचें, जिनकी पूर्ति कम हो, तो लोगों में खामखा असन्तोष पैदा होगा और आगे चलकर हिंसा फैलेगी। सच्चा व्यापार तो बेशी चीजों में ही किया जा सकता है।

मान लीजिये, हमारे पास कुछ लड्डू हैं, जो हमने एक लड़के को दे दिये। वह उन्हें खाने लगता है। पहला लड्डू खाने पर उसे कुछ सन्तोष मिलता है, फिर दूसरा खाया, फिर तीसरा, लेकिन जब चौथा खाया, तो तबीयत भारी लगती है। अब उसे प्यास महसूस हुई। उस वक्त कोई दूसरा लड़का पानी का एक गिलास लेकर आ पहुँचा। एक-दो लड्डू अभी बाकी हैं और पहले लड़के को, जिसकी लड्डू की भूख मिट चुकी है, यह नहीं मालूम कि इनका क्या करूँ। तब वह दूसरे लड़के से कहता है, "मुझे पानी दो और मैं तुम्हें लड्डू दूँगा।" अब अगर दोनों अदला-बदली कर लें, तो दोनों को फायदा। प्यासे को पानी मिल गया, भूखे को लड्डू। यह बेशो चीजों में अदल-बदल या महाजनी की मिसाल है, जिससे दोनों का भला होता है। असली सन्तोष तभी होता है, जब वह दोनों तरफवालों को महसूस हो।

इसके खिलाफ अगर पानी का एक बरतन हो और बहुत से आदमी पीना चाहें, तो पूरा नहीं पड़ेगा और इसके लिए झगड़ा मचेगा! इस हबड़-दबड़ में कुछ पानी भी गिर जायगा और किसी को भी सन्तोष नहीं पहुँचेगा।

पैसा या लेने-देन

पुराने समय से ही चीजों की अदला-बदली के लिए कुछ निशान इस्तेमाल किये जाते हैं। लेकिन अब, जब जरूरतें बेइन्तहां बढ़ गयी हैं, चीजों का मान छिपाने के लिए पैसे का इस्तेमाल किया जाता है। इससे सच्चे इन्सानी मान का पता नहीं चलता। अगर हम एक सेर दूध के बारह आने दें, तो इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि बेचनेवाले को एक सेर दूध के बराबर ताकत देनेवाली चीज खाने को मिल जायेगी। उसे लालच होगी कि इसके बजाय अपने बच्चों को चाय ही पिला दूँ और बाकी पैसा बचाकर रख लूँ। वह यह भी कर सकता है कि बछड़े के हिस्से का दूध उसे न देकर, गाय का कुल दूध दुह ले और अपने बच्चों तक को न पिलाकर उसे बेच दे। ऐसी सूरत अक्सर तभी पैदा होती है, जब पैसे की शक्ल में दाम चढ़ जाते हैं। इसमें एक लाभ होता है कि एक ज्यादा कीमती चीज को एक कम कीमती या नुकसानदेह चीज के बदले में दे दिया जाता है। इसलिए पैसा धोखा देता है और हिंसा पैदा करता है।

यह पैसे का पैदा किया लोभ ही है, जो लोग जमीन पर अनाज की खेती न करके मुनाफेवाली फसलें जैसे तम्बाकू आदि उगाते हैं। पैसे के जरिये जो नुकसान पहुँचता है, आम आदमी को उसका इल्म नहीं होता।

आज व्यापार की मंशा यह बन गयी है कि आदमी को बुनियादी जरूरत की चीजें न देकर उसका ध्यान, पैसे के जोर से, ऐश-आराम की चीजों पर लाया जाय। मालदार आदमी आजादी से पैसा फेंक सकते हैं और इसलिए व्यापारियों व कारखानेवालों को उनकी मांग पूरी करने की पड़ी रहती है, बजाय इसके कि गरीबों की जरूरत पूरी करें। इस दूसरे धन्धे में ज्यादा बचत भी नहीं है। धान की खेती से मुश्किल से दाम के दाम वसूल होंगे; लेकिन तेल, साबुन के कारखाने से सब चाँदी ही चाँदी है। इस तरह इन्सानी पहलू से देखने पर पता चलता है कि पैसे के जरिये से आर्थिक चहल-पहल समाज-विरोधी ढर्रे पर आ गयी। यह और इस किस्म की दूसरी बुराइयाँ हिंसा और बेईमानी से भरी हैं। लेन-देन में पैसे के बजाय चीजों की अदला-बदली से ऐसा खतरा बहुत हद तक कम हो जायेगा।

सहयोग

यहाँ हमारा मतलब सहयोग के कानूनी संगठन से न होकर इन्सानी नातेदारी से है। सहयोग से लोगों के अन्दर आपसी भाईचारा या खुशी-आराम बढ़ता है। अपने निज के सुख के लिए समाज का हर आदमी हर दूसरे आदमी की खुशी-आराम पर निर्भर है। अगर एक कुम्हार बर्तन बनाता है और पड़ोस का मोची अल्मुनियम के बर्तन इस्तेमाल करता है, तो कुम्हार कहाँ से उस मोची के बनाये जूते खरीद सकेगा? इसी तरह अगर कुम्हार की इतनी औकात हो कि वह मशीन के बने जूते इस्तेमाल करे, तो मोची का क्या हाल होगा? नतीजा यह होगा कि कुछ अरसे के बाद दोनों दस्तकार मिट जायँगे। इसलिए हमारा रोज के धंधे का ढर्रा इस तरह बँधना चाहिए कि एक-दूसरे का भला हो। ऐसा सहयोग ही हमारे गाँववालों को माली मुसीबतों से बचा सकता है।

आर्थिक सहयोग से गाँववालों का ताना-बाना ऐसा सध जाता है कि उनमें एका पैदा होता है। बिना इस एके के—जानदार एके के—मिली-जुली जिन्दगी बिखर जायेगी और इस तरह के भेद-भाव व झगड़े खड़े हो जायेंगे, जैसा हम आज देख रहे हैं। ऐसे बिखरे हुए टुकड़े बाहरवालों को दावत देते हैं कि वह आकर अपना उल्लू सीधा करें। ऐसे एके की खातिर कामयाबी से

कुछ कर सकने के लिए हमें अपने पर शिस्त और काबू चाहिए। एक गाँव में अमेरिका की बनी चीजें इस्तेमाल होने के माने हैं कि ताना तो वहीं का है, मगर बाना अमेरिकी। इससे वह बानक बन ही नहीं सकता कि गाँव बचा रहे और आखिर में आकर वह अमेरिका के आर्थिक चंगुल में जरूर फँस जायेगा। कोई फौजी या हवाई बेड़े इस घटना को नहीं रोक सकेंगे। बाहर के हमले के खिलाफ अहिंसा से हिफाजत करने के लिए यह जरूरी है कि आपके यहाँ एक सच्चे आर्थिक सहयोग की इकाई हो। इसी से वह जुड़ी हुई ताकत पैदा हो सकेगी, जिससे किसी कौम में जान आती है और तभी दुनिया की शान्ति के लिए आप कुछ अपनी तरफ से कर सकेंगे। स्वावलम्बन के प्रोग्राम में बुनियादी ख्याल यही है।

रहन-सहन का दर्जा

अभी हमने जो कारण बताये हैं, उनसे यह साफ हो जाता है कि हमारी रोज की जिन्दगी इस तरह सिलसिले में लायी जाय कि हमें अपनी शाख्सियत को जाहिर करने का मौका मिल सके। हम क्या खाते हैं, कैसे क्या पहनते हैं, कैसा जीवन बिताते हैं—इन सबका असर हमारे जीवन पर तो होता ही है, लेकिन इन्सानियत के भविष्य पर भी होता है। जिस तरह हर आदमी अपने को चीजों के उस नाप से जाहिर करता है, जिसे वह इस्तेमाल करता है, उसी तरह उसके रहने-सहने के तरीके से उसकी शख्सियत जाहिर हो जाती है। इसके लिए कामिल नमूने ऐसे होने चाहिए, जिन पर लोग डटकर चल सकें और यह नमूने या दर्जे जो हम बनायें, तो बाहर की बातों का अच्छी तरह ख्याल करके बनायें। यह ध्यान में रहे कि हर शख्स को पूरे तौर पर ऐसा मौका मिल सके, जिससे उसकी सब तरह की शक्तियों का और उसकी शख्सियत का विकास हो। रहन-सहन के दर्जे का नमूना इस तरह का न हो कि महज जिस्म की और दूसरी ऊपरी जरूरतों से उसका ताल्लुक हो, लेकिन उन अनगिनत चीजों से भी, जिनसे जीवन में मिठास और सुख पैदा होता है और जो जीवन को केवल जिन्दा रहने की तह से ऊँचा उठाती हैं। यह तो मानी हुई बात है कि इस नाप का सम्बन्ध कुदरती तौर पर खुराक से होगा, जिसकी जरूरत इस वजह से रहती है कि मुनासिब दवाओं की या डॉक्टरी मदद के साथ इन्सान की जिस्मानी ताकत एक दर्जे पर बनी रहे और गिरने न पाये, कपड़े से होगा, जो महज बदन को ढकेगा ही नहीं; बल्कि जिसमें कला और खूबसूरती को जाहिर करने की गुञ्जाइश भी रहेगी;

तालीम से होगा, जो जीवन को ज्यादा जोरदार और खुशनुमा बनायेगी। साथ ही साथ मन के मुताबिक काम पाने से उसकी पैदाइशी शक्तियों का विकास होगा। इस काम से आदमी के पैदाकारी झुकावों की तरक्की के लिए रास्ते खुल जायेंगे। इसी तरह से रहन-सहन के उस दर्जे का सम्बन्ध दूसरी मिली-जुली सहूलियतों से होगा, जिनसे व्यक्ति और समाज दोनों की तरक्की में मदद मिलती है।

मिसाल के तौर पर खाना खाने की बात लें। खाना आप पच्छिमी ढंग से खाइये या देशी ढंग से, खुराक के पहलु से दोनों में बहुत कम फर्क है। देशी ढंग में खसूसियत यह है कि सस्तेपन के साथ सफाई भी मिली हुई है और खिलाने के दौरान में हरएक को पूरी गुञ्जाइश है कि सेवा की जो कला दिखलाना चाहे, दिखलाये। ताजे हरे पत्ते पर परसे हुए खाने के मुकाबले किस चीज में ज्यादा मजा आ सकता है? लसदार चावल या चपाती, बसंती दाल, सफेद दही, लाल चटनी, काली मिर्च, ताजी तरकारियों का रंग-बिरंगा सलाद, लाल टमाटर वगैरह, इनको देखते ही तबीयत भर जाती है! जब खाना खा चुके और पत्ते हटा दिये, तब सिर्फ फर्श धोना रहता है। आनेवाले लोग—जो उँगलियों से खाते हैं—खा चुकने पर बिला नागा मुँह धोते और कुल्ला कर लेते हैं। यह एक बहुत मुनासिब और सफाईकार आदत है। लेकिन जो चम्मच-काँटों से खाते हैं, उन्होंने यह मुफीद रिवाज छोड़ दिया है। उन्होंने बहुत किया, तो जरा-से-पानी में अपने पोरवे भिंगो लिये, मुँह-होंठ कुछ गीले किये और फिर पोंछ डाला। इस बहुत पेंचीदा पच्छिमी ढंग में बड़ी या ऊँची खासियत की क्या बात है? जिन्दगी के पेंचीदा ढंग से खर्चा बढ़ जाता है और सफाई या कला के लिहाज से उतना फायदा नहीं होता। इसलिए सही शिनाख्त हमें करनी है, तो पच्छिमी ढंग को 'पेंचीदा' कहना चाहिए और अपनेवाले को 'सादा' न कि 'ऊँचा' और 'नीचा'।

अमेरिका के अंदर तो रहन-सहन के झूठे-मूठे विचारों का प्रचार होने से घरेलू जीवन तेजी के साथ उखड़ रहा है। एक मियाँ-बीबी एक-दो कमरेवाले किसी मकान में 'मेहनत-बचाऊ तरकीबों' से रह लेते हैं। सुबह होने पर मियाँ काम को निकल जायेंगे और बीबी भी। राह में चलते-चलते किसी कॉफे में नाश्ता कर लिया और दोपहर का खाना फैक्ट्री के किसी रेस्टोरेण्ट या ढाबे में हो गया। फिर दोनों जने शाम को मिले, तो किसी होटल में खाना खा लिया और अगर उन दोनों की आमदनी इतनी काफी है कि एक मोटर रख सकते हैं, तो घूमने निकल गये, सिनेमा देखा और रात को

कमरे में आकर रेडियो सुनने लगे। घर सँभालने, रोटी पकाने या इस तरह के दूसरे किसी काम से उन्हें कोई वास्ता नहीं। वे न यह जहमत उठायेंगे कि बच्चे पालें और न उनके रहन-सहन का 'ऊँचा' तरीका इसकी इजाजत देगा। यह वह लोग हैं, जो कारखानेवालों की खातिर गुलाम बने हुए हैं। कारखानेवाले लोग ही 'ऊँचा' नाप कायम करते हैं, ताकि कारखानों के लिए 'हाथ' जल्दी से ही मिल जायँ।

रहन-सहन का जो दर्जा हम मंजूर करें, उसमें आदमी की शक्तियों के विकास के मौके मिलने चाहिए और उसकी अपनी शख्सियत को जाहिर करने के रास्ते खुलने चाहिए। इसके अलावा उसके जरिये से समाज के जुदा-जुदा मेम्बरों में एक ताल्लुक या कड़ी-सी बन जानी चाहिए, ताकि जो ज्यादा आसूदा लोग हैं, वह कम आसूदा अभागों की मदद कर सकें।

इस तरह से करने में, हमारी हर जरूरत का मुकामी पैदावार से और हमारे चारों तरफ के लोगों के जीवन से ऐसा सम्बन्ध हो जायगा, जिससे एक मजबूत गठी हुई आर्थिक इकाई बन जायेगी। तब जो बढ़ोतरी होगी। वह भली-चंगी होगी, जिसे हिंसा बर्बाद नहीं कर सकेगी और उससे पायदारी पैदा होगी।

अक्सर ऐसा होता है कि हम जीवन के नाप को पैसे और सामान की शक्ल में बयान करते हैं और इसका कोई लिहाज ही नहीं किया जाता कि जो हमारे आस-पास के लोग हैं, उनकी जिन्दगी कैसी है। ऐसे नाप बनावटी होते हैं और इस वजह से पायेदार नहीं होते। क्योंकि वह ऊपर से लादे जाते हैं, दिखावटी होते हैं और उनकी जड़ें लोगों के जीवन से ताल्लुक नहीं रखतीं, इसलिए वह टिक नहीं पाते हैं। अगर हम पैदावार का माद्दा और खर्च बढ़ा दें—और ऐसे बढ़ायें कि वह मुकामी बाजार में पूरा हो सके—तो रहन-सहन आप-से-आप ऊँचा उठ जायेगा। इस तरह कुदरती तौर पर रहन-सहन का दर्जा बनने से जनता की कलचर और काबलियत रौशन होगी, क्योंकि इसकी जड़ें लोगों के जीवन में होंगी। वह दर्जा टिकाऊ होगा।

●

खेती-अर्थनीति और गाँव-सुधार : 2 :

अगर कोई देश अपनी बुनियादी जरूरतें—खाना, कपड़ा और मकान खुद नहीं पूरी करता, तो उसे आजाद नहीं कहा जा सकता। हमारी खेती-अर्थनीति एक ऐसी चीज है, जो हमें अपने पाँव पर खड़ा कर दे सकती है। हमारा देश हमेशा से खेतिहर देश रहा है और जो भी उद्योग-धंधे यहाँ चलते थे, वे खेती से मिले-जुले होते थे।

कारखाना या धन्धा

अनाज उपजाने का जो अमेरिकी ढंग है, उससे खेती एक धंधे के बजाय एक कारखाना बन गयी है। यह भेद हम इस वजह से साफ-साफ बता देना चाहते हैं; क्योंकि जो तरह-तरह के फर्क बाद में पैदा होते हैं, जो तरीके इस्तेमाल में लाये जाते हैं और जो उसूल अपनाये जाते हैं, वे इसी भेद के नतीजे हैं।

कारखाने की खूबी यह है कि उसे इस बात से कोई सरोकार नहीं रहता कि लोग हिन्दुस्तान में या दुनिया में कहीं भी भूखे मर रहे हैं। उसका तो बस एक ही मकसद होता है, वह यह कि दाम ऊँचे बने रहें। इन्सानियत का कोई ख्याल जरा भी नहीं किया जाता। बस, ख्याल इस बात का रखा जाता है कि पूर्ति कम की जाय, ताकि मांग बनी रहे और दाम चढ़े रहें।

अमेरिका में जमीन भरपूर है। इसलिए वहाँ पर लोग हलवाई के सब निकम्मे और लालची तरीकों को अख्तियार करके महाजनी की खातिर अनाज पैदा करते हैं।

खाद

हमारा देश एक बहुत पुराना देश है, जिसकी आबादी घनी है। दो फसलों के बीच जमीन को कुछ मोहलत मिलनी चाहिए। जमीन से हम जितना ज्यादा कस खींच लेंगे, उतनी ही देर उसके दोबारा जरखेज होने में लगेगी। सदियों के अनुभव के बिना पर हमारे खेती करने के तरीके ऐसी हालत को पहुँच गये हैं, जिनसे जमीन की पैदावार और उसके फिर से भर आने में मेल कायम हो गया है। अगर हम हलवाई के तरीकों को इस्तेमाल

करके यह कोशिश करें कि जमीन को उभारकर जितना हो सके चूस लें, तो जिस रफ्तार से वह अपने को भर सकेगी, उससे कहीं ज्यादा तेजी से हम उसका उपजाऊपन खत्म कर देंगे। हमारी इन करतूतों से एक अच्छा-खासा काश्तकारी के लायक इलाका बंजर रेगिस्तान बन जायेगा। अगर हम खेती के अमेरिकी तरीके अपनाने का फैसला करते हैं, तो यह खतरा हमारे सामने है। बेहतर यह है कि यह देखते हुए कि हमारी जमीन का उपजाऊपन बना रहता है, हम कम पैदावार पर ही संतोष कर लें। सवाल महज पैदावार की तादाद का नहीं है, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण चीज यह भी है कि जो जमीन हमें मयस्सर है, उसके लगातार इस्तेमाल और पैदावार में ताल बैठता है या नहीं। हम यह बतायेंगे कि इन दो तरीकों पर जब अमल किया जाता है, तो इससे जो नतीजे पैदा होते हैं, उनमें किस कदर जमीन-आसमान का भेद हो जाता है।

बहुत से साइन्सदानों का कहना है कि बनावटी खाद देने से जमीन का कस जाता रहता है। मिट्टी में कीड़े नाम के जन्तु होते हैं। यह जन्तु हमारी जरूरत का काफी खेती-काम कर डालते हैं। इनके काम के बराबर महत्त्वपूर्ण वह काम नहीं होते, जो आदमी किया करता है; जैसे जुताई, निकाई वगैरह। यह जन्तु मिट्टी में होनेवाला ह्यूमस नामक वनस्पति की जात का माद्दा खा लेते हैं और उसे अन्दर ही अन्दर पचाकर एक ऐसी खाद की शक्ल में बाहर निकालते हैं, जिसे मिट्टी हजम कर लेती है। जमीन में वह जो सुराख किया करते हैं, उसकी वजह से हवा और पानी अन्दर जाना मुमकिन हो जाता है और उनसे कुछ तत्व लेकर मिट्टी मालामाल हो जाती है। इस तरह यह जन्तु सचमुच मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं और अपना कस वापस लाने में उसे मदद देते हैं।

लेकिन बनावटी खाद इस्तेमाल करने से इन जन्तुओं को वह जरूरी वनस्पति माद्दा नहीं पहुँच पाता, जिससे उनको अपनी खुराक मिल जाये। साइन्स से बनायी बनावटी खाद देते रहने से यह जन्तु मर जाते हैं, क्योंकि वह दवाओं पर तो रह नहीं सकते। इनको पनपने की खातिर बाड़े की खाद चाहिए। यह खाद मिट्टी के लिए मानों खास खुराक है। साइन्स की खाद इस्तेमाल करने का तरीका यह है—पहले तो हम जमीन जोतते हैं। जहाँ वह निकम्मी हुई, तो जरा गहरा जोतते हैं। ऐसा करते-करते हमें पता चलता है कि मिट्टी एक चट्टान की तरह सख्त हो गयी है। इसकी वजह यह है कि

मिट्टी को ढीला करनेवाले जन्तु तो खत्म ही हो चुके हैं। बाद में आप किसी तरह भी उस जमीन से काम नहीं ले सकते। हिन्दुस्तान में हमारे पास जमीन वैसे ही थोड़ी है, इस तरीके को अपनाने से बंटाधार ही होगा।

रसायनी खाद को दवा समझना चाहिए। दवा और खुराक में फर्क होता है। दवा की कभी-कभी जरूरत पड़ सकती है। मान लीजिये, कोई आदमी शराब खूब ऊपर तक पीकर नशे में नाच रहा है, तो क्या हम उसके काम को ताकत का कारनामा कहेंगे? यह तो उसकी नसों की एक केवल खलबली है। थोड़ी मेहनत के बाद वह थककर हार जायेगा। जरा देर बाद आप देखेंगे कि वह किसी नाली में पड़ा है। यही हाल रसायनी खाद देने पर जमीन का होता है। माना कि इन खादों का एक महत्त्व है। जब कोई बीमार पड़ता है, तो डॉक्टर आकर सुई लगा जाते हैं। रोग के लिहाज से वे बहुत थोड़ी तादाद में यह इन्जेक्शन देते हैं। वे मरीज की जाँच करते हैं, खास करके दिल की और वह देखते हैं कि मरीज की बर्दाश्त कितनी है। फिर उसी के एतबार से दवा लगाते हैं। मलेरिया में डॉक्टर लोग कुनैन देते हैं। अब फर्ज कीजिये, कोई रोगी यह सोचे—''डॉक्टर मुझे कुनैन दे रहा है। कहता है, दिन में दो-तीन या हद पाँच ग्रेन लो। अगर मैं इकट्ठी ले लूँ, तो जल्दी अच्छा हो जाऊँगा। इसलिए कुनैन का एक लड्डू-सा बनाकर खा डालूँ?'' इसका क्या नतीजा होगा? उसका मलेरिया तो अच्छा हो जायेगा, लेकिन न मर्ज रहेगा न मरीज। मलेरिया के जर्म उसे लेकर ही मरेंगे। लेकिन अगर हम मैदे का लड्डू तैयार करें और अपने हाजमे के मुताबिक खायें, तो उससे फायदा ही होगा।

इसलिए रसायनी खाद को खुराक के बजाय दवा के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए। उनका इस्तेमाल तभी किया जाये, जब मिट्टी को अच्छी तरह जाँच लिया गया हो और खास-खास इलाकों में खास-खास तादाद में इस्तेमाल करना चाहिए।

लेकिन जब कोई आदमी धरती के मालामाल हो जाने को कारखाने या सनअत के लिहाज से देखता है, तो धरती की आखिरी गत के लिए उसे जरा भी परवाह नहीं होती। उसे तो बड़ी फसल और जोरदार पैदावार चाहिए। कई बरस तक तो वह जमीन को रसायनी खाद दे-देकर, उपजाऊ बना-बनाकर खूब पैदा कर लेता है। लेकिन बाद में उसे कुछ नहीं मिलनेवाला है।

कारखानों में तो यह तरीका काम में लाया जा सकता है। अमेरिका में पिछले दो साल में पेट्रोल को बुरी तरह इस्तेमाल किया गया है। एक मरतबा वहाँ के लोग यह समझते थे कि हमारे पास पेट्रोल का अथाह भण्डार है। लेकिन अब उनको बाहर के ऐसे इलाके चाहिए, जहाँ पेट्रोल होता हो। कोई इस तरह से बरबादी करता है, तो एक दिन यह नौबत आ जाती है कि वह दूसरे के माल पर हाथ साफ करना चाहता है। यह लोभ जो है, वह हिंसा पैदा करने का जबरदस्त चश्मा है।

बनावटी खाद ऐसी चीज ही नहीं है, जिसे हमारा हिन्दुस्तान बर्दाश्त कर सके। लेकिन अगर आप इसका इस्तेमाल करना ही चाहते हैं, तो साथ-ही-साथ आप देश की सारी मिट्टी की रसायनी जाँच कराइये और यह इत्मिनान कर लीजिये कि कहाँ पर इसकी जरूरत है और कितनी जरूरत है।

कुछ खेत ऐसे हैं, जहाँ ज्वार और दूसरी चीजें बोयी जाती हैं। कुछ पौधे दस-बारह फुट ऊँचे होते हैं और कुछ बालिश्त बराबर भी नहीं होते। इसके क्या मानी हैं? यही कि कहीं जमीन बहुत अच्छी है, कहीं बहुत खराब। उस खराब जमीन को आप देखिये और जो कुछ जरूरी है, उसे दीजिये। हमारे देश में आदमियों के लायक डॉक्टर तो हैं नहीं, मिट्टी के लिए फिर कौन कहे? इसलिए हिन्दुस्तान में रसायनी खाद इस्तेमाल करना बेहूदगी है। बिहार और ट्रावनकोर में रसायनी खाद बनाने के कारखाने हैं। हलवाई की तरह पूँजीपति यह चाहते हैं कि गरीब रैयत की जेब का पैसा अपनी जेब में आ जाये। हिर्स के इन फंदों से हमें बचना चाहिए।

अगर काश्त के इन दोनों तरीकों की हम छानबीन करें, तो पहला तरीका माँ के हलुवा बनाने जैसा है। हमें जमीन की एहतियात वैसी ही रखनी चाहिए, जैसे माँ बच्चे की रखती है। धरती से व्यवहार करने का तरीका या खेती-अर्थनीति को हमें यह ख्याल रखकर बनाना होगा कि हम जमीन को उभार-उभारकर चूसना चाहते हैं या उसे खिलाकर उससे काम लेना चाहते हैं।

धरती के साथ व्यवहार करने के तरीके के नतीजे तरह-तरह के होते हैं। छोटी मुद्दतवाले तरीके बरबादी लाते हैं। अमेरिकी खेती हिन्दुस्तानी खेती की तरह एक धन्धा नहीं, बल्कि व्यापार है। इसलिए किसान का कुदरती विकास रुक जाता और दूसरों के साथ उसका रवैया बदल जाता है। व्यापारी को इसकी जरा भी फिक्र नहीं रहती कि मेरे ग्राहक कौन हैं। खर्च

करनेवाले से उसका कभी कोई सम्बन्ध नहीं होता। माँ के तरीके का आधार तो आदमी और उसकी जरूरतें हैं। हिन्दुस्तान में अनाज की कमी होने पर भी तम्बाकू की काश्त बढ़ायी जा रही है। यह हलवाई ढंग है। खाने के लिए नहीं, बल्कि पैसे के लिए वे पैदा कर रहे हैं। हमारी अर्थनीति में ऐसी हालत और भी बहुत-सी चीजों की है। यह तय करना जरूरी है कि हम क्या करना चाहते हैं? स्वावलम्बन चाहते हैं या मुट्ठीभर आदमियों को मालामाल कर देना चाहते हैं? एक डाम बनाने के माने होते हैं, करोड़ों रुपया खर्च करके लाखों एकड़ जमीन को काश्त में लाना और बिजली पैदा करना। मकसद क्या है? बिजली बेचना। पूँजीपति लोगों की दिलचस्पी तो महज दाम बनाने में है। बिजली बनाने की और लाखों एकड़ में सिंचाई कर लेने की बातें व्यापारी की बातें हैं। अगर आपको बड़े-बड़े इलाके की सिंचाई ही करनी है, तो जरूरत सिर्फ इस बात की है कि जहाँ-जहाँ मिट्टी बही जा रही हो, वहाँ पाँच-पाँच सौ रुपये लगा दीजिये या जहाँ जरूरत हो, कुएँ खुदवा दीजिये। बाकी सब सँभाल गाँववाले कर लेंगे। तब खर्च भी इतना भयानक नहीं होगा। गाँव वालों को सामान सरकार दे ही सकती है। लोगों की मदद से सवाल को हल कर लेने का यह एक बहुत अच्छा ढंग होगा। इससे एक नतीजा यह भी होगा कि लोग सरकारी चीजों की कद्र करने लग जायेंगे और उनको एहतियात से बरतेंगे।

डाम या प्रोजेक्ट नाम की चीज में खतरा है। बिजली कोई अनूठी बरकत नहीं है। साउथ अर्काट जिले में मेटूर डाम में बिजली बनाकर इस्तेमाल के लिए दी गयी। वे (सरकारी लोग) यह चाहते थे कि बिजली के पम्पों की मदद से कुओं और तालाबों में से पानी निकाला जाये। जमीन एकदम बंजर बनी जा रही थी। गाँव वाले काजू के दरख्त काट रहे थे। यह पेड़ काफी अच्छे थे। इनमें कोई बीमारी भी नहीं लगी थी। पूछने पर लोगों ने बताया कि हमारे पास खाने को कुछ है ही नहीं, इसलिए पेड़ काटकर लकड़ी का कोयला बनाकर बेच देते हैं, ताकि कुछ पैसा-दो पैसा मिल जाये और किसी तरह गुजारा हो। उन्होंने यह भी बताया कि बिजली के बड़े-बड़े खम्भों के लग जाने की वजह से हम खेती भी नहीं कर सकते और पानी निकालने के लिए बिजली का इस्तेमाल किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि "सरकारवालों ने बिजली के पम्प जब बेचे, तो जिन-जिनके पास पैसा था, उन्होंने ये पम्प खरीद लिये। हमारे पास पैसा कहाँ? जो रईस हैं, अच्छे खाते-पीते हैं, उन्होंने खरीद लिये और पम्प से पानी खींच लेते हैं। नतीजा

यह होता है कि तीस फुट के करीब गहरे जितने कुएँ हैं, वे सूख जाते हैं और बेचारे गरीब आदमी पानी के बिना तंग हैं। हम लोग तो बैल की मदद से पानी निकाला करते थे, लेकिन हमारे तालाब भी अब सूख गये हैं।''

जो टुकड़े जमीन की तरह मालूम पड़ते थे, वह पहले तालाब थे। जब पम्प नहीं चले थे, तो पैसेवाले लोग भी ज्वार बोते थे, लेकिन अब वह फल उगाते हैं। सब तरह के फल उन्होंने लगा रखे हैं। इन फलों का होता क्या है? बम्बई, बंगाल, मद्रास और कलकत्ता भेज दिये जाते हैं। इस तरह बिजली के पम्प ने पानी को बम्बई, बँगलोर, मद्रास और कलकत्ते भेज दिया और गरीब की रोजी मारी गयी। भूखों मरने से बचने के लिए वे पेड़ काट-काटकर कोयला बनाकर बेच रहे हैं, ताकि किसी तरह जिन्दा रह सकें। अब आपने देखा कि हलवाई की अर्थनीति से हम कहाँ-के-कहाँ पहुँचे? लोगों को धोखा दिया गया और आखिरी नतीजा हुआ उनकी बरबादी। इससे पता चलता है कि अच्छी दिखाई देनेवाली स्कीमें किस तरह गरीबों को सताती हैं। इसलिए ऐसी स्कीमों की मुकामी लोगों को दिखाया जाये, वे उन्हें समझें, उनके भले-बुरे नतीजे पर गौर करें, यह देखें कि यह उन्हें कहाँ ले जायेंगी और इस बात का ख्याल करें कि इनसे उनको किसी तरह का नुकसान तो नहीं पहुँचनेवाला है। हमको इस बहकावे में नहीं आ जाना चाहिए कि अमेरिका में यह किया जा रहा है, न्यूजीलैण्ड में वह किया जा रहा है, वगैरह। हमारे तरीके ऐसे होने चाहिए, जो हमारे देश की हालतों के मुताबिक फिट बैठें।

अनाज का भाव

अनाज और खेती की दूसरी चीजों का भाव किसान नहीं तय किया करता है। इसके अलावा कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन पर उसका कोई बस नहीं चलता है और फिर मानसून के सहारे रहने की वजह से साल में कई महीने वह खाली भी रहता है। लेकिन इस अर्से में पेट को तो रोटी चाहिए ही। लेकिन इस बात को हम पैदावार के दाम लगाते समय भूल ही जाते हैं। मान लीजिये, किसी आदमी ने बाइसिकिल बनाकर छह महीने तक अपने शो रूम में छोड़ दी। जब वह उसे बेचता है, तो मकान-भाड़ा लगाकर और काफी मुनाफा वगैरह जोड़कर दाम निकालकर बेचता है। यह सब चीजें तैयारी या पैदावार के दाम में शामिल की जाती हैं। यही बात किसान के बारे में लागू होनी चाहिए, हमारे अर्थकार कहे जानेवाले विद्वान् लोग बैठे-बैठे लोहा,

तेल, कपड़े वगैरह ऐरी-गैरी चीजों के दाम लगाकर कुछ छू-मंतर करके 'दाम-इन्डेक्स' नाम का जादू दिखाते हैं। इससे वह यह हिसाब लगाते हैं कि अनाज के क्या भाव होने चाहिए और उसी भाव को पक्का ठहरा देते हैं। उन्हें इससे कोई मतलब ही नहीं कि असली खर्च कितना पड़ा। यह स्वांग सरकार और शहरी खर्चकार दोनों मिलकर करते हैं—पैदाकार से जरा भी नहीं पूछते। इस तरह सरकार और खर्चकार मिलकर देहात को लूटते हैं। यह चीज जोरों से हो रही है। वे इन मानों में देहात को सचमुच लूटते हैं कि उसके लगाये भाव का कोई ताल्लुक असली पैदावार से कुछ भी नहीं होता। यह हरकत अंग्रेजी राज्य में तो होती ही थी, आज भी हो रही है।

किसानों को चूसा न जाये और उनकी जरूरतें इत्मिनान के साथ पूरी हो सकें—इन बातों को ध्यान में रखकर मैंने 'समतोली खेती' नाम की एक योजना तैयार की है। 'समतोली खुराक' के नाम से तो पढ़े-लिखे लोग वाकिफ हैं। लेकिन यह खुराक, फिर खासकर देहात में कहाँ नसीब होती है! हमने यह हिसाब लगाया है कि ऐसी खुराक पहुँचाने के वास्ते दस-पंद्रह गाँव की आबादी के लिए कितनी जमीन की दरकार होगी। इसके बाद उस इलाके का सर्वे किया जाता है यह देखने के लिए कि कितने एकड़ में गेहूँ बोया जा सकता है, कितने में सब्जी, कितने में मक्का वगैरह और इस तरह हम यह पता चलाते हैं कि खेती को समतोली कैसे बनाया जाये। अगर कोई-कोई चीज हमारे पास कम है, तो कोई-कोई ज्यादा भी हो सकती है। इन बढ़ती चीजों का कम चीजों के बदले में लेने-देन कर लिया जाता है। अगर बढ़ती चीजों का ही लेन-देन किया जाता है, तब हिंसा या अन्याय की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है। हिंसा और अन्याय तो ऐसी लेन-देन से पैदा होते हैं, जो स्वावलम्बन के दर्जे से नीचे रहती हैं।

लेकिन यह तभी किया जा सकता है, अगर हम खेती को एक धंधे की शक्ल में देखें। अगर हम सारे इलाके को माली तौर से ऊपर उठाना चाहते हैं, तो जमीन का इस्तेमाल समझ-बूझकर करना चाहिए। खेती अपनी जरूरत के मुताबिक होनी चाहिए और जो चीजें हमारे पास अपनी जरूरत से ज्यादा हैं, उनका लेन-देन उन चीजों से किया जाये, जिनकी हमें जरूरत है। यह तो हुई बात जमीन को इस्तेमाल में लाने की।

मिलकियत

जमीन की हर तरह की मिलकियत पाप है। आज हमारे यहाँ, खासकर, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में जबरदस्त जमींदारी-प्रथा है, जिसको हम

जन-जायदाद का गबन कहेंगे। गबन से यह किसी तरह कम नहीं है। एक आदमी कितनी धूप का मालिक होता है? धूप, हवा, पानी वगैरह में मिलकियत हो ही नहीं सकती। इसी तरह से जमीन पर—जो भगवान् की दी हुई सामाजिक जायदाद है—कोई कब्जा नहीं माना जा सकता। यह तो सारे समाज के फायदे की खातिर इस्तेमाल करने के लिए है। जैसे धूप, पानी, हवा वगैरह समाज की मानी जाती हैं, इसी तरह जमीन भी समाज की मानी जानी चाहिए। किसी आदमी को उतनी ही जमीन दी जा सकेगी, जितनी समाज के भले के लिए इस्तेमाल करने की उसमें काबलियत हो। जमीन पर मिलकियत तो समाज की होनी चाहिए। पहले हमारे यहाँ ऐसे होता था। गाँवभर जमीन का मालिक होता था और जुदा-जुदा कुटुम्बों को काश्त के लिए वह दे दी जाती थी।

जो आदमी जिस जमीन पर काश्त करे, उसे उस जमीन की पैदावार का पूरा फायदा मिलना चाहिए और जो बेशी बचे, सिर्फ उसे ही दूसरे लोगों में बाँटा जाये। जब यह रिवाज चालू होगा, तभी बँटवारा-न्याय कायम हो सकेगा। बँटवारा तो लोगों की जरूरत के मुताबिक करना ही पड़ेगा। निजी तौर पर चीजों का लेन-देन हमें बन्द कर देना होगा। यह काम सहयोगी सोसाइटी या इसी तरह के कण्ट्रोलिंग साधन के जरिये किया जा सकता है।

बाँटने का काम एक-एक आदमी के सुपुर्द न होकर सहयोगी सोसाइटियों के सुपुर्द हो। बेशी चीजों को ऐसे तरीके से सँभाला जाये कि उनका कण्ट्रोल किया जा सके। इसी सूरत से पैदावार को ठीक तरीके से बाँटा जा सकेगा।

मदद

खेती पर जो मदद आज काम करती है, उसमें गुलामी की बू आती है। वैसे तो देशभर में ऐसे तरीके बरते जाते हैं, जिनका इन्सानियत से कोई वास्ता नहीं। अगर हमारी खेती-अर्थनीति को सही आधार पर बनाये रखना है, तो यह चीज बन्द होनी चाहिए। गोरखपुर में गुबरिस नाम का रिवाज चलता है। यह गुबरिस क्या बला है? जमींदार मजदूरों को यह हक देता है कि गोबर बटोर लें। वह इसे धोकर इसमें से कुछ दाने अपने खाने के लिए निकाल सकता है! यह दाने कौन से हैं? वही, जो कि जमींदार के जानवर ने पूरी तरह हजम न कर सकने की वजह से पाखाने के रास्ते निकाल दिये! इन गरीबों के लिए यह रियायत समझी जाती है और उनकी मजदूरी का एक हिस्सा है। इससे पता चलता है कि किस तरह खेती पर काम करनेवाली हमारी मदद को जलील किया जा रहा है।

दक्खिन में लोग दस या पंद्रह रुपये उधार लेने के बाद पीढ़ियों तक एक जमींदार के नीचे काम करते हैं। मलाबार में एक तरह के खेती मजदूर हैं, जो जानवरों की तरह इस्तेमाल किये जाते हैं। मालिक लोग इन आदमियों को मजदूरी करने दूसरों के खेतों में भेज देते हैं और किराया अपने पल्ले। मजदूरी काम करनेवाले लोगों को नहीं मिलती, बल्कि जमींदारों को! यही तरीका गुजरात में है। यह सब खुराफात इस बात का नतीजा है कि जमीन को जाती जायदाद बना रखा गया है।

जमीन को चूसने के आज तरह-तरह के तरीके हैं। हिन्दुस्तान में हो या पच्छिम में, यह तरीके उन्हीं वसूलों पर हैं, जो बड़े-बड़े कारखानों के होते हैं। दाम-भाव, तरीके वगैरह सब ऐसे हैं, जो इन्सान की शान के खिलाफ हैं। इन सवालों के हल करने के लिए हमें माँ के ढंग से अमल करना चाहिए और किसी का भी अपने भले के लिए दूसरे को निचोड़ना नामुमकिन बन जाना चाहिए। अगर यह बात हम ध्यान में रखेंगे, तो एक सन्तोषजनक प्रथा कायम कर सकेंगे।

आज यह भावना हमें पैदा करनी चाहिए कि हमारे खेती कॉलेजों की जिम्मेदारी है कि जमीन पर कहत न पड़ने दें। अगर वे ऐसा नहीं करते, तो इन कॉलेजों को पालने में कोई तुक नहीं है। अब तक इन कॉलेजों में जुदा-जुदा जात की ईखें उगायी गयी हैं, ताकि मिलों को हर महीने ईख मिलती रहे और मशीनें लगातार चलती रहें। अमेरिकी रूई और देशी रूई के मेल से उन्होंने नयी रूई बनायी है। लेकिन गाँववालों की असली जरूरत की परवाह जरा भी नहीं की जाती।

हक और जायदाद

हमारे देश में लगान के तरीके सूबे-सूबे में और आदमी-आदमी के जुदा-जुदा हैं। हर आदमी, जिसके पास जमीन है, कुछ खास शर्तों पर उसे दूसरों को देता है। खेती के लायक जमीन को जायदाद समझा जाता है। इसकी वजह से असल मेहनत करनेवाले को वसूली बहुत कम होती है। समाज में हर किसी को खुद पैदा करना चाहिए। लेकिन आजकल लोग जायदाद की शक्ल में जमीन पर कब्जा जमाये हुए हैं। यह आदमख़ोरी अर्थनीति है।

जमीन के ऊपर तीसरी पार्टी के हक का सवाल भी उठ सकता है। मिलों की तरह इसमें भी समाज के आम लोगों की दिलचस्पी किसी कदर कम होती है, लेकिन काश्त के लायक खेतों के बारे में ऐसा नहीं है। धान के खेतों को अगर ईख में बदल दिया जाये, तो अनाज की पैदावार कम हो जाने

से उसका टोटा पड़ सकता है, जिसका नतीजा यह होगा कि आदमी के अपने और समाज के आम हितों को नुकसान पहुँचेगा।

जमींदारों के अलावा अनगिनत लोग दरमियान में और रहते हैं। यह दरमियानी कतई न होनी चाहिए। जमीन के मालिक सिर्फ वही होने चाहिए, जो असल खेती करते हैं। महाजनी की खातिर जमीन पर कब्जा जमाये रखने से गरीबी पैदा होती है और बेरोजगारी के सवाल खड़े हो जाते हैं।

सामाजिक असर

बेरोजगारी के डर के मारे मजदूर को अपने मालिक की मर्जी के मुताबिक मजबूरन चलना पड़ता है। लोग अभी तक यह नहीं जानते कि उनके बुनियादी हक क्या हैं। खेती को तो समाज-सेवा की चीज मानना चाहिए। खेतिहरों को मदद मिलनी चाहिए, ताकि वह इसमें कुछ सुधार कर सकें। ऐसी मदद को जमीन के साथ टाँकना चाहिए, न कि उस आदमी के, जिसके पास वह जमीन हो। समाज के ध्यान में यह रहना चाहिए कि जमीन सबके इस्तेमाल के लिए है। उधार पर जो रुपया या मदद मंजूर की जाये, वह जमीन की जरूरत को देखकर की जाये, न कि जोतनेवाले की हस्ती को।

पैदावार का बँटवारा

आज सरकार का सारा निजाम-संगठन मालगुजारी के विचार को लेकर खड़ा हुआ है। सरकार अपना मनमाना लगान वसूल करती है, न कि उतना, जो लोग बर्दाश्त कर सकें। किसान को लगान सिक्के की शक्ल में देना पड़ता है। इसका मतलब यह है कि जो किसान फसल उगाकर कुछ पैदा करता है, वह काटने के बाद उसे बेचकर सिक्के में बदले और लगान अदा करे। लेकिन तब तक दाम गिर जाते हैं। सरकार यह नहीं सोचती कि बेचारे किसान पर क्या मुसीबतें बीतती हैं। अनाज की शक्ल में लगान अदा करने से लोगों को आराम रहेगा। मजदूरों को भी अनाज की शक्ल में मजदूरी दी जाती है। माना कि अनाज की शक्ल में किस्त उघाने में सरकार को कुछ दिक्कतें पड़ेंगी, लेकिन इन दिक्कतों को तो सर्वेसर्वा नहीं मान लेना चाहिए। बहुधन्धी सहयोगी सोसाइटियाँ बनाकर लगान वसूली इनके जरिये से की जा सकती है और सरकार की जरूरत के मुताबिक उन्हीं गाँवों में उसे दोबारा फिर बाँटा जा सकता है। लगान अनाज की शक्ल में वसूल करने से समाज के अन्दर न्याय कायम किया जा सकेगा।

●

खेती के धंधे और गाँव के धंधे : 3 :

क्या हिन्द सरकार को, क्या दूसरों को, बहुतों को यह ठीक से मालूम ही नहीं कि 'गाँव-धंधे', 'झोंपड़ी-धंधे' और 'घरेलू-धंधे' के सही माने क्या हैं। जब चाहा, जैसे चाहा इन शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन इन तीनों में बहुत फर्क है।

'गाँव-धंधे' के माने यह है कि पैदावार, बँटवारा, और खर्च, सब काम कमो-बेश गाँव के ही अन्दर हों। कुम्हार जो बर्तन बनाता है, वह विलायत में बिकने के लिए नहीं, बल्कि गाँव में उपयोग होने के लिए बनाता है, उसका खरीदार उसका पड़ोसी। जो चीजें वह बनाता है, वह इलाके में बनती, बँटती और उपयोग होती हैं।

'झोंपड़ी-धंधे' का ताल्लुक केवल पैदा करने के ढंग से है। गाँव-धंधे में कितने काम करनेवाले हों, लेकिन वह गाँव-धंधा ही रहेगा। सांगानेर और कानपुर में कागज का काम चलता है। चाहे काफी लोग उनमें काम करते हों, लेकिन वह है गाँव-धंधा ही। लेकिन अब दूसरी मिसाल लीजिये, चन्दन की लकड़ी का या हाथीदाँत का काम। यह काम झोंपड़ी में बनता जरूर है, लेकिन उपयोग कहीं और होता है—पेरिस, लन्दन, न्यूयार्क में। झोंपड़ी-धंधों से अक्सर शोषण किया जाता है। उनका एक मकसद यह हो सकता है कि माल बाहर भेजकर विदेशी पौंड या डालर कमा लिये जायें। लिहाजा इसका मतलब क्या हुआ? यही कि झोंपड़ी में काम बनाया जा रहा है, बाहर के उपयोग करनेवालों के लिए। हाथीदाँत और चंदन का काम भेजकर डालर कमाये जा सकते हैं। मगर किन्हें चाहिए? डालर चाहिए बड़े-बड़े पूँजी-पतियों को, ताकि वे भारी-भारी मशीनें और इस तरह के दूसरे सामान मुहय्या कर सकें। जो आमदनी गाँव में खर्च की जानी चाहिए थी, उसको पूँजीपतियों की खातिर दूसरी तरफ लगाने का यह तरीका है। झोंपड़ी-धंधे में इस बात का कोई सवाल ही नहीं रहता कि चीज कहाँ जाती है या उसे कहाँ कौन खर्च करता है।

'घरेलू-धंधा' घर सँभालनेवाली चलाती हैं, अपने घर के काम-काज के लिए। इसमें शामिल हैं—कढ़ाई का काम, सिलाई-बुनाई, जाम, चटनी, पापड़ बनाना वगैरह। इसको हम घरेलू-धंधे कह सकते हैं।

मकसद

देहाती-धंधों में काम करनेवाले आदमी के निजी विकास की गुञ्जाइश है। इससे उसकी असल हस्ती निखर आती है। उसे साधन जुटाकर सूझ-बूझ के साथ काम सँभालना पड़ता है और इस वजह से उसका विकास होता है। लेकिन बड़े धन्धों में अक्सर अपनी सूझ-बूझ तो खत्म ही हो जाती है। उसमें हमें खर्च करनेवाले का ही ध्यान रहता है और उसके आराम पर निगाह रहती है। हम असल में करते क्या हैं? वही करते हैं, जिसका आखिरी नतीजा यह होता कि हममें से हरएक में जो थोड़ी-बहुत कारीगरी का माद्दा होता है, वह भी खत्म हो जाय। सिगरेट के डिब्बों में गत्ते के छोटे स्लिप रहते हैं। डिब्बे का ढक्कन खोलने पर स्लिप खींचने के बाद एक सिगरेट निकलता है और इस तरह उसकी पैकिंग ढीली पड़ जाती है। इसी वजह से सिगरेट पीनेवाले इस किस्म का सिगरेट खरीदा करते हैं। हमने आप ही आप कूक दी जानेवाली घड़ियों के बड़े-बड़े इश्तहार देखे हैं। आदमी का इतना पतन हो गया है कि उसमें अपनी घड़ी कूकने तक भी ताकत नहीं रह गयी है। किसी घड़ीसाज ने ऐसी घड़ी का इश्तहार दिया है कि कलाई को इधर-उधर हिलानेभर से घड़ी में आप-से-आप कूक भर जायेगी!

बहुत-सी चीजों के बारे में यह कहा जाता है कि यह आराम के लिए बनायी गयी हैं, मगर असल में तो उनसे खर्चकार का वसीलापन बरबाद होता है और काहिली बढ़ती है। इनका मकसद ही खर्चकार को गुलाम बनाना होता है। आखिर में यही माने निकलते हैं कि हमारी ताकत बहुत-सी ऐसी चीजों में लग जाती है, जिन पर हमें उसे नहीं लगाना चाहिए था। हजामत बनाने को ही लें। सेफ्टीरेजर की चाल के पहले पुराने तरह का उस्तरा, जो इंग्लैण्ड या हालैण्ड का बना होता था, साढ़े तीन रुपये का आता था और चालीस बरस से ऊपर तक चलता था। हम हिसाब लगा सकते हैं कि साढ़े तीन रुपये में कितनी बार हमने हजामत की। उन उस्तरों को अब गला-काट उस्तरे कहा जाता है। उनके इस नाम की वजह से उन्हें अब कोई खरीदार नहीं चाहता। यह सब व्यापार की चालें हैं। जिससे खर्चकार एक बार फँस जाय और फिर उसे फाँसे रखना। सेफ्टीरेजर के ब्लेड को तेज करने के लिए एक खास तरह की शक्ल का शीशा उन्होंने निकाला है। जो जरा समझदार आदमी हो, वह यह काम एक बोतल से निकाल सकता है। यह तेज करनेवाले शीशे बेतहाशा बिकते हैं और हमारे सुस्त भाई लोग इस

जाल में खूब फँसते हैं, जो उनके लिए बिछाया जाता है। जितना ज्यादा इन चीजों का वे इस्तेमाल करते हैं, उतने ही ज्यादा वे सुस्त बनते हैं। व्यापार का आजकाल तरीका ही यह है कि आदमी किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा सुस्त बने। इनको मेहनत-बचाऊ तरकीबें कहा जाता है। लेकिन इनका असली मतलब यह होता है कि जो इनसे फायदा उठाये, उसे ज्यादा मेहनत करनी पड़े।

इंग्लैण्ड की प्रसिद्ध बात है कि वहाँ हफ्ते में एक दिन ऐसा होता था, जब कि इलाके-इलाके की गरीब औरतें वहाँ के रईस आदमियों के दरी-कालीन पीट-पीटकर साफ करती थीं और इस काम के लिए उन्हें डेढ शिलिंग मिलता था, जिससे उनका खर्च चलता था। बाद में वैकुअम सफाई के मेहनत-बचाऊ तरीके निकल आये। नतीजा यह हुआ कि इन बूढ़ियों का, जो अब इस काम से हटा दी गयीं, हफ्तेभर का डेढ़ शिलिंग मारा गया और वैकुअम सफाई का कार्य घरवाली के कंधों पर आ पड़ा। इसी तरह सब चीजें उलट-पुलट हो गयी हैं।

जब हम देहाती धन्धों की बात करते हैं, तो इसका असली मकसद यह नहीं रहता कि लोगों को काम मिले, बल्कि यह कि उन्हें अपनी शाख्यियत के जाहिर करने का मौका मिले। इससे अपने विकास में मदद मिलती है। अगर ऐसा नहीं होता, तब यह बेकार है। हर दस्तकार के लिए अपनी शख्सियत को उसी तरह जाहिर कर सकना मुमकिन होना चाहिए, जैसे एक कलाकार को। मान लीजिये, कलाकार पाँच रुपयेवाली चादर पर पाँच रुपये के रंग खरीदकर रंग करता है। हालाँकि उसके दस रुपये खर्च हुए, लेकिन तस्वीर सैकड़ों या हजारों तक में बिक सकती है। क्यों? कलाकार की हस्ती की वजह से, जो उसने अपने काम में उँड़ेल दी है। इसके बरअक्स लिथो को लीजिये। मिल के सब कपड़ों पर सरस्वती और लक्ष्मी की अच्छी-अच्छी तस्वीरें मिलती हैं। लेकिन इनमें कोई जान नहीं होती और कलाकार की हस्ती का कहीं पता नहीं चलता। असली कला तो तभी आती है, जब हम अपनी पूरी हस्ती किसी चीज में उँड़ेल दें। देहाती उद्योग-धन्धों में अपनी हस्ती को जाहिर करने का मौका मिलता है और हर अच्छा देहाती दस्तकार, जो खुद हिलचस्पी के साथ काम करता हो, ऐसा दिखा सकता है।

खादी प्रोग्राम की मन्शा यह थी कि हमारे अपने जीवन में अहिंसा और सचाई की एक मात्रा पैदा हो। हम देख चुके हैं कि शुरू में इंग्लैण्ड की

अर्थनीति का मरकज या केन्द्र जानवर था और घोड़ों से सब शक्ति ली जाती थी। उनकी जगह भाप आ गयी। भाप से चलनेवाली बुनाई व कताई मिलों की उन्होंने ईजाद की, जिससे ज्यादा माल बनने लगा। इसलिए मिलों की खातिर ज्यादा कपास की जरूरत महसूस हुई। उस वक्त हिन्दुस्तान से ढाका की बहुत खूबसूरत मलमल और दूसरी सूती चीजें लन्दन जाती थीं। इंग्लैण्ड ने उन पर ड्यूटी लगा दी, ताकि अपने माल की हिफाजत कर सके। मैन्चेस्टर के आस-पास कपास नहीं होती है। छोटे रेशे और बड़े रेशे की कपास में जमीन-आसमान का फर्क पड़ता है। हाथ की कताई के लिए छोटे रेशेवाली कपास ठीक होती है, जो हिन्दुस्तान में होती है। मिल को बड़े रेशे की कपास चाहिए, क्योंकि उसका तकुआ तेज रफ्तार से घूमता है। मिल के कपड़े की मजबूती बट के ऊपर मुनहसिर है। मैन्चेस्टर का काम जैसे-जैसे बढ़ता गया, रूई की अधिकाधिक जरूरत पड़ने लगी। यह सोचा गया कि अमेरिका की दक्खिनी रियासतों से जैसी जात की और जितनी कपास चाहिए, मिलती रहेगी। वहाँ पर बसनेवाले बहुत से लोग अंग्रेजी नस्ल के थे और अंग्रेजों को धूप में, खासकर गरम मुल्क में, काम करने की आदत नहीं होती; वैसे भी अमेरिका की दक्खिनी रियासतों में जलवायु कोई खास अच्छी नहीं होती, बल्कि बहुत कुछ उत्तर हिन्दुस्तान जैसी रहती है। इसलिए खेतों पर काम के वास्ते उन्हें गुलाम-मदद की जरूरत पड़ी। इससे नीग्रो गुलाम व्यापार को बढ़ावा मिल गया। इसलिए जब हम अमेरिकी कपास इस्तेमाल करते हैं, तो हम उस गुलामी में साझीदार हो जाते हैं, जो एक अनैतिक चीज है।

पिछली सदी के बीच तक यह चीज मजे के साथ चलती रही, लेकिन तब अब्राहम लिंकन ने इसके खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की। दक्खिन की रियासतों ने कहा कि हम गुलाम-मदद नहीं छोड़ सकते, वर्ना हमारे रहन-सहन का दर्जा ही गिर जायेगा और बोलीं कि हम गुलामों की देखभाल अच्छी तरह कर लेते हैं और वह सब दलीलें दीं, जो आज ट्रस्टीशिप के समर्थन में दी जाती हैं। उत्तर और दक्खिन की रियासतों में लड़ाई छिड़ गयी। अब तक तो उत्तर की रियासतें मैन्चेस्टर को कपास भेज देती थीं। अब उन्होंने मैन्चेस्टर को कपास देने से इनकार किया। मगर मैन्चैस्टर ने मशीनरी में लाखों रुपया लगा रखा था, इसलिए वहाँवालों ने सोचा कि कपास और जगह पैदा होनी चाहिए। पंजाब का उत्तरी हिस्सा उन भूगोली लकीरों में था, जिसमें अमेरिका की दक्खिनी रियासतें थीं। इसलिए उन्होंने सोचा कि ऐसी

रूई हिन्दुस्तान में पैदा करनी चाहिए। इस वक्त तक अंग्रेजों ने ईस्ट इण्डिया कंपनी से सारी ताकत भी अपने हाथों में ले ली थी। इसलिए उन्होंने कपास में खोज या रिसर्च करानी शुरू की। यह जड़ है हिन्दुस्तान में एग्रीकल्चर कॉलेज खुलने की और नाम यह लिया जाता है कि हमारे विकास के लिए खोले गये हैं! उन कॉलेजों में प्रयोगों में करोड़ों रुपया खर्च हुआ। यह पैसा कहाँ से आया? भुगता हिन्दुस्तान ने, मजा उड़ाया मैन्चेस्टर ने।

जब बड़े रेशे की कपास पंजाब में होने लगी, तो सवाल उठा उसके मैन्चेस्टर भेजने का। लिहाजा पहली जरूरत यह पड़ी कि इसे समुद्र के पास तक ले जाया जाय। इस तरह रेलवे की शुरूआत की गयी। मगर बहाना वही कि हिन्दुस्तान के विकास के लिए यह किया जा रहा है! रेलवे से फायदा किसे पहुँचा? मैन्चेस्टरवालों को—जिनकी एक कानी कौड़ी भी खर्च नहीं हुई।

फिर दूसरी जरूरत पड़ी इस कपास को समुद्र के रास्ते लिवर-पूल, मैन्चेस्टर वगैरह पहुँचाने की। लंका, लाल सागर और धरती-बीच सागर-वाले रास्ते से वह इसे ले जाते थे। एहतियात के लिए अब यह लाजिमी हो गया कि इन रास्तों की हिफाजत की जाये। लेकिन यह कैसे किया गया? लंका में ट्रिन्कोमैली में, लाल सागर में, अदन में और भूमध्यसागर में सईद में अपने अड्डे बनाकर। इन सब में फौजें मुहय्या कर दी गयीं। इन पर खर्च किसने बर्दाश्त किया? मैन्चेस्टर के मिल मालिक ने, नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के दीन-दुखी टैक्सदाताओं ने।

ऐसी सूरत में भी चीज सस्ती न होगी तो कब? जरूर होगी, क्योंकि नयी-नयी खोज करने का खर्च, पहुँचाने के खर्च वगैरह हिन्दुस्तान के टैक्सदाताओं ने बर्दाश्त किये और नाम के वास्ते थोड़ा-सा अंग्रेजों ने। इस तरह से बननेवाली चीज आप-से-आप सस्ती पड़ेगी, क्योंकि दाम तो किसी और ने लगाये। इसी वजह से आज भी मिल का कपड़ा खादी से सस्ता है। लेकिन इसमें बेईमानी भरी है। इस सारे इतिहास में हिंसा और झूठ है। कौमी डकैती के अलावा यह कुछ नहीं है। इसलिए गांधीजी ने जोर देकर कहा कि हम नंगे भले रहें, लेकिन ऐसी चीजें नहीं छुएँगे। अगर ऐसी अर्थनीति से हम फायदा उठाते हैं, तो इस डकैती में हिस्सेदार बनते हैं।

देहाती-धंधों के आन्दोलन के पीछे एक नैतिक बल है। इससे यह समझ में आता है कि राजनैतिक प्रोग्राम के साथ मिलकर खादी के बल पर कौमी आन्दोलन किस तरह शान के साथ चल सका। यही वजह थी कि गांधीजी

खादी को स्वराज्य प्रोग्राम का खास हिस्सा मानते थे। 'चरखा कातो और स्वराज लो' इसका मतलब क्या है? यही कि हम उस पहिये के, चरखे के सारे पहलुओं को समझते हैं। और इसी के जरिये से झूठ से सच की तरफ, हिंसा से अहिंसा की तरफ बढ़ा जा सकता है।

ऊपर की बातों से जाहिर है कि मैन्चेस्टर के कपड़े में कुछ नैतिक या ठीक कहें तो अनैतिक—चीज जरूर है, जिसका दाम रुपये में नहीं आँका जा सकता। हमने समुद्री अड्डों, फौज और बेड़ों की चर्चा की है। फौजों और बेड़े का खर्च काफी होता है, लेकिन इससे कहीं ज्यादा खर्च उस चीज का है, जो रुपये में नहीं आँका जा सकता। उन जानों की कीमत नहीं लगायी जा सकती, जो व्यापार की खातिर इन जगहों को साफ और महफूज रखने में चली गयीं और न उस खून की, जो इस काम के लिए बहा। इसलिए मैन्चेस्टर का कपड़ा इन्सान के खून में सना कपड़ा था! हमारी आँखों में वह ज्योति नहीं, जो इस कपड़े के अन्दरवाले खून को देख सकें—हम समझते हैं कि वह सफेद है। लेकिन गांधीजी को तो वह इन्सान के खून के धब्बों से सना लाल-लाल दीखता था। सारा विदेशी व्यापार इस तरह की हिंसा के सहारे ही आखिर चलता है।

अगर रोज के खर्च के लिए हम बड़े पैमाने की तैयारीवाले तरीके काम में लायेंगे, तो ऐसे अनैतिक बरताव में साझीदार होने का खतरा हमेशा रहेगा। जितना ज्यादा केन्द्रीकरण हम दूर करेंगे, उतना ही ज्यादा हम उन तरीकों को बरतते जायेंगे, जो नैतिक और रूहानी निगाह से ऊँचे पाये के हैं। अगर खाना, कपड़ा, मकान की जरूरत है, तो यह सब उन लोगों के जरिये मिलना चाहिए, जो गैर-केन्द्री-इकाइयों में काम कर रहे हों। कुछ हद तक तो इससे डकैती, हिंसा वगैरह कम हो जाती हैं और उस हद तक देश के सांस्कृतिक जीवन की बढ़ोतरी के लिए वह फायदेमन्द है। राष्ट्र के अन्दर यह काम देहाती धंधों को पूरा करना है।

इसके यह माने नहीं कि बड़े कारखाने एकदम गायब कर दिये जायें। लेकिन खतरे जानते हुए, बुराई से बचने के लिए, नफे के डंक को इनमें से निकालकर हम उन्हें शुद्ध बनायेंगे और सिर्फ सेवा-बल का आधार रखेंगे। हम एक हद कायम कर लेंगे कि इस तरीके से क्या माल बनाया जाये और दूसरे तरीके से क्या। इस तरह रईसों या दिमागदारों द्वारा गरीबों को लूटने के हर कारण हम कम कर देंगे या खत्म कर देंगे। और यही हमें चाहिए। गैर-

केन्द्रीय धंधों का एक खास महत्त्व हमारे देश में रहनेवाला है और बड़े कारखानों से वह कहीं ज्यादा बढ़ा-चढ़ा होगा। बड़े कारखानों को तो हम खास कण्ट्रोल में रखेंगे ही, क्योंकि उनसे स्वराज्य के विकास में यानी राष्ट्र की सभा-पंचायतों में आम जनता के हित की सुनवाई में मदद नहीं मिलती।

लोकराज्य

बड़े कारखानों में लोकराज्य नामुमकिन है। जो लोग चोटी पर होते हैं, वे गरीब मजदूरों पर, उनके रहन-सहन के तरीकों पर—जिनकी तादाद फी कारखाना चार-पाँच हजार तो होती ही है—एक दबाव डालते हैं और मनमानी करते हैं। मिसाल के तौर पर टाटानगर को लीजिये, जो खुद एक साम्राज्य है। किसी एक आदमी को चार-चार, पाँच-पाँच हजार आदमियों पर हुकूमत करने का हक नहीं है। बड़े कारखानों में लोकशाही बहुत ही कम चला करती है, लेकिन देहाती धंधे लोकशाही को बहुत हद तक बढ़ाते हैं। गैर-केन्द्रीय धंधों से इन्सान की आजादी या सुराजी तबीयत का विकास होगा और वह अपना सर ऊँचा कर सकेगा। राष्ट्र के जीवन में ऐसे धंधों की एक बहुत बड़ी जगह होनी चाहिए, जिससे लोग लोकशाही की तरफ झुकें। बड़े कारखानों से राजनैतिक तानाशाही ही बढ़ेगी। नाम के लोक-राज्यवाले देश तक जैसे अमेरिका, रूस वगैरह लड़ाई के दबाव में सचमुच तानाशाह बन जाते हैं। जो कोई देश भी अपनी जरूरत का सामान केन्द्रीय कारखानों से तैयार करेगा, वह आखिर में जरूर तानाशाह बन जायेगा। लोकराज्य वहाँ केवल दिखावे का रहेगा, जिससे लोग धोखे में पड़े रहें।

स्टालिन, रूजवेल्ट, चर्चिल, हिटलर या मुसोलिनी में कोई खास फर्क नहीं है। जैसे एक अच्छा या बुरा है, वैसे ही सब। इन सबको तानाशाह मानना होगा, क्योंकि इनके देशों ने केन्द्रीय धंधों का तरीका अपना रखा था। इसका यह मतलब कुदरती तौर पर हो जाता है कि जो लोग केन्द्रीय धंधों में काम करते हैं, उन्हें फौजशाही की आदत हो जाती है। भला कहीं इस फौजशाही से लोकशाही की बढ़ोतरी हो सकती है? इन्सान के नैतिक और रूहानी पहलुओं के पूरे विकास के लिए भी एक ऐसे तरीके की जरूरत है, जिसमें देहाती या गैर-केन्द्रीय धंधों के जरिये से संगठन हो। राजनैतिक तौर पर लोकशाही के विकास के लिए सूरतें देहाती धंधों से ही पैदा हो सकती हैं। देहाती-धंधों का इस्तेमाल करना जंगलीपन या वहशीपन को लौट जाना नहीं है। लेकिन हाँ, अगर लोकशाही ही जंगलीपन हो, तो बात अलबत्ता दूसरी है। देहाती-धंधों से देश सभ्यता और संस्कृति की तरफ बढ़ता है,

इन्सान की शान खिलती है, उसकी आजादी चमकती है और वह अपने साथी आदमियों की गुलामी के शिकंजे से बाहर निकल आता है।

आज आर्थिक रूप से हममें से बहुत-से लोग गुलाम ही होते हैं। यह आर्थिक मुसीबतें असल में चक्की के वह पाट हैं, जो चोटी पर बैठे लोगों ने हमारी गर्दन में बाँध दिये हैं। अगर हम अपना विकास निजी खेती या निजी देहाती-धंधों के आधार पर करें, तो हम आजाद हो सकेंगे। जिसे जीवन का मान या दर्जा कहा जाता है, वह जितना ऊपर चढ़ा होता है, उसके अन्दर उतनी ही ज्यादा कसकर गुलामी की रस्सी हमारे गले में बाँधी जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि अपने उसूलों पर डटे रहने का नैतिक बल हममें नहीं रह जाता। जितनी ज्यादा बड़ी इकाई होती है, उतनी ही ज्यादा गुलामी में लोग फँसते हैं। अगर हम चाहते हैं कि हमारी नैतिक, राजनैतिक और रूहानी गुत्थियाँ सुलझ जायें, तो इसका बस एक ही रास्ता है; वह यह कि हमारा आर्थिक कारोबार अपना अलग आजाद हो और हम पैदावार के ऐसे ही रास्ते अपनायें, जिससे यह आर्थिक आजादी पैदा हो सके।

●

मिलवाली अर्थनीति : 4 :

एक गलत ख्याल लोगों के दिल में यह जम गया है कि मिलों या कारखानों से देश सहज ही तरक्की कर सकता है। हमें हमेशा इतिहास से सीखना चाहिए। पिछली घटनाओं की सच्ची तस्वीर इतिहास है। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'एतिहास दुहरा-दुहराकर फिर से आता है।' अगर हम वही कदम उठायेंगे, तो वैसी ही आफतों में फँस जायेंगे। इस सदी के शुरू में जब रूस और जापान के बीच लड़ाई में जापान जीत गया, तो खूब खुशी मनायी गयी कि पूरब का एक देश उठकर ऊपर चोटी पर पहुँच गया। लेकिन फिर अपनी आँखों के सामने ही हमने जापान को दुनिया की एक बड़ी ताकत होने पर भी खत्म होते देख लिया। ऐसा क्यों? मिल-कारखाने जापान को नहीं बचा सके। यह किसी देश को भी नहीं बचा सके। इस वक्त अमेरिका का सितारा बुलन्द मालूम पड़ता है। यह पता नहीं कि वह कब खत्म हो जायेगा। हिंसा से तो आरजी समतोल ही पैदा हो सकता है, जिसका हमें आसरा नहीं रखना चाहिए। कुछ अरसे बाद हिंसक बन गया, तो पुराने महारथी सब चौपट। यह ख्याल गलत है कि बड़े-बड़े कारखाने हमें बचा ले जायेंगे। इन कारखानों की जरूरत तब होती है, जब देश की अर्थनीति की बुनियाद हिंसा हो और वहाँ की रोज की जरूरतें वहीं पूरी कर लेने के हिसाब से बनी हों। हमारे देश में यह कारखाने बिल्कुल फिजूल हैं। फिर हमें यह महँगे भी बहुत पड़ेंगे। फौज, सामुद्रिक बेड़े या हवाई दलों को हथियारबन्द करने के लिए कारखानों की दरकार होती है। बिना कारखानों के वह चल ही नहीं सकते। लेकिन अगर हम अहिंसा पर चलना चाहते हैं और फौज वगैरह से कोई सरोकार नहीं रखते, तब केवल खर्च या बुनियादी जरूरत की चीजें पैदा करने के लिए बड़े पैमानेवाले कारखाने चलाने से घाटा ही रहेगा।

कारगुजारी

मिसाल के तौर पर एक चीज, जिसका हम बहुत काफी इस्तेमाल करते हैं, कागज है। हम कागज हाथ और मशीन दोनों से बना सकते हैं, अपने कुदरती साधनों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करने के ख्याल से इसे तैयार करने का सबसे किफायत तरीका कौन-सा है? फर्ज कीजिये, हम मिल में बाँस से कागज बनाते हैं। मिल में कागज बनानेवाले क्या करते हैं? वे सैकड़ों एकड़ जमीन में बाँस उगवाकर हरे-हरे मुलायम बाँस कटा लेते हैं।

मिल में एक सिरे पर वह इसे चढ़ाते हैं और दूसरी तरफ से कागज निकलता चला आता है। यह उनका तरीका है। इसके लिए बाँस की काश्त उसी तरह करना चाहिए, जैसे ईख की। मिल द्वारा कागज बनाने का तरीका 'हलवाई' के तरीके जैसा है।

लेकिन हाथ से हम कागज किस तरह बनाते हैं? हम बाँस के जंगल नहीं उगाते। हम घूम-फिरकर बाँस की टूटी टोकरियाँ, पुरानी चटाइयाँ वगैरह रद्दी या कूड़े के ढेरों में से बीन लेते हैं। हाथ का कागज अक्सर सड़ी-गली चीजों से ही बनाया जाता है।

अब इस चीज को जरा दूसरे या खपतवाले पहलू से देखिये। मिल के कागज बनाने के लिए बाँस खास तौर से उगाकर वहाँ पहुँचाया जाता है। हाथ से बनाने में हमें काश्त नहीं करनी पड़ती, जंगल में तो यह होता ही है। इन बाँसों की चटाइयाँ वगैरह बनती हैं, जिन्हें लोग पाँच-दस बरस तक इस्तेमाल करते हैं। यानी इन पाँच-दस बरस हम बाँस की खपत कर रहे हैं। जब यह बेकार हुआ या सड़ने लगा, तो फेंक दिया जाता है। फेंक दिये जाने के बाद हम हाथ से इसका कागज बनाते हैं। अपने साधनों को खपाने या उपयोग में लाने का इन दो तरीकों में से कौन-सा ज्यादा बेहतरीन है? जाहिर है कि दूसरा तरीका बेहतरीन है, क्योंकि अव्वल तो हम कई बरस बाँस का इस्तेमाल कर लेते हैं और दूसरे, जब यह बेकार हुआ, तो कागज बनाकर इसका इस्तेमाल दोबारा कर लेते हैं। हमने इस तरह यह देखा कि पहले यानी हलवाईवाले तरीके से कागज बनाने में कितनी बरबादी होती है।

नार्वे और स्वीडन में बड़े-बड़े जंगल होते हैं और लकड़ी के गूदे से वहाँ के लोग कागज बनाते हैं। हमारे यहाँ ऐसा कर सकना मुमकिन नहीं है। हमारे यहाँ इतनी गुञ्जाइश नहीं कि जमीन को इस काम में खपा दें। हमारा ज्यादातर हाथ का कागज रद्दी-सड़े माल से बनता है। हम पटसन से भी कागज बनाते हैं। यह आता कहाँ से है? इत्मिनान रखिये कि पूर्वी पाकिस्तान या और कहीं से पटसन नहीं मँगाते। हम तो पुरानी इस्तेमाल की हुई बोरियाँ ले लेते हैं, उन्हें काटकर सोडे से उबालते हैं, गूदा बनाते हैं और फिर उससे कागज। कुदरत की देन के इस्तेमाल को या पैदावार को देखकर हमें पता चलता है कि हाथ से बनाने के तरीके मिल के तरीकों से कितने बेहतर और बुलन्द हैं।

अक्सर चीजों में ऐसा होता है कि हाथ से बने माल से चौतरफा फायदा पहुँचता है, जो मिल के माल से नहीं होता। साबुन को लीजिये। साबुन बनाने की फैक्ट्रियाँ कास्टिक सोडा बड़ी कीमिया कम्पनियों से खरीदकर

उसमें तेल मिलाती हैं और फिर कुछ अनाप-शनाप कर-कराके साबुन तैयार कर लेती हैं। यह साबुन बनाना नहीं, बल्कि कास्टिक सोडा की शक्ल बदल देना है।

हम साबुन हाथ से भी बनाते हैं। उसके लिए कास्टिक सोडा नहीं खरीदते। हमारे विद्यार्थी बरसात के बाद, जनवरी या उसके आगे-पीछे खेतों में जाकर धरती के ऊपर से सज्जी मिट्टी जमा कर लाते हैं। इस सज्जी के उठ जाने से धरती काश्त के लिए और भी ज्यादा मौजूँ हो जाती है। तो उस सज्जी को लाये, उसमें से सोडा कार्बोनेट निकाला, फिर चूना, पानी वगैरह मिलाकर साबुन बना लिया। तेल भी हम घानी का या दूसरा ऐसा तेल इस्तेमाल करते हैं, जो लोगों की खुराक में इस्तेमाल नहीं किया जाता। तो एक पंथ दो काज। यों साबुन बनाकर खेती की खेती सँभाल ली और वह तेल, जो खाने के काम न आते थे, काम में आ गये। इस तरह हमारी साबुनसाजी हमारे आर्थिक ढाँचे का एक हिस्सा बन गयी है। हर जगह इस तरह का सिलसिला हमें बाँधना चाहिए। लेकिन बड़े-बड़े कारखानों में यह चीज नहीं होती। उनकी अपनी हँडिया अलग ही पकती है और बाकी आर्थिक संगठन से उन्हें कोई सरोकार नहीं रहता।

ताकत

ताकत के इस्तेमाल से भी हम अहिंसा या हिंसा, सच या झूठ की तरफ बढ़ सकते हैं। यह मुनहसिर इस बात पर है कि हम दरियाई अर्थनीति अपनाते हैं या तालाबी अर्थनीति। ताकत के सबसे मामूली साधन को हम लें, तो वह बुनियादी साधन इन्सान है। हमारे यहाँ आदम-शक्ति का भण्डार है, जिसका जितना ज्यादा उपयोग हम कर सकें, करना चाहिए। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि हर चीज से जितनी ज्यादा हो सके, उतनी ताकत लेकर उसका इस्तेमाल करें।

पंजाब में पानी की ताकत बहुत तादाद में है, जो अनाज पीसने के काम आती है। एक बरतन होता है, जिसमें अनाज रख देते हैं। पीसने का पाट पानी से चलता है। रात को पत्थर चालू कर दिया और सुबह तक पिसान तैयार। खर्च नामभर का लगता है और वह भी लकड़ी के एक पहिये का, जिसकी मदद से पानी के बल पाट घूमता रहता है।

इन्सान की ताकत से हम कुदरती ताकत पर आयें, यानी पानी की ताकत पर। हमारे पास बहुत सस्ते भाव पर पानी की ताकत मिल सकने का ऐसा भण्डार है, जो कभी खत्म ही न हो। इससे आप कागज के लिए गूदा बनाइये, आँटा पीसिये या छोटे-मोटे काम के लिए बिजली भी बना लीजिये।

पहले जमाने में काफी ताकत हवा की चक्की के जरिये से लोग पैदा कर लेते थे। आज भी ऐसी चक्कियाँ मिलती हैं। ताकत लेने का यह भी एक तरीका है। हवा की चक्की का खर्च सात-आठ सौ रुपये के करीब बैठेगा।

इन्सान की ताकत से जैसे-जैसे हटते जाते हैं, ताकत का दाम महँगा होता जाता है और गरीबों को उसका मिलना दूभर होता जाता है। इसलिए जिनके पास साधन या पैसे होंगे, वह ताकत को अपने काबू में करके उसके ठेकेदार बन बैठेंगे। इस बात का जबरदस्त अंदेशा रहता है।

अब हम कुदरत से जानवर की ताकत पर आयें। हमारे देश में तरह-तरह के जानवर मिलते हैं, जैसे बैल, गधे, घोड़े, ऊँट, हाथी वगैरह। इस तरह हमारे पास इन्सान की ताकत हुई, पानी की ताकत, हवा-चक्की की ताकत और जानवर की ताकत हुई और यह सब-की-सब हमारी ताकतें हैं।

हिन्दुस्तान में हम लोग बैल की ताकत पर बहुत निर्भर रहते हैं। इसलिए गो-पालन हमारे लिए एक जरूरी धंधा हो जाता है, सिर्फ दूध-घी की खातिर नहीं, बल्कि खाद और बैलों की खातिर। बैल से हम बखूबी वाकिफ हैं। इटली में भी बैल से खेती करते हैं। उत्तर के ठंडे देशों में घोड़ा इस्तेमाल करते हैं। हाल तक पच्छिम के सब देशों में खेती वगैरह के लिए घोड़े की ताकत का इस्तेमाल बराबर होता रहता है। रेतीले रेगिस्तानों के लोग ऊँट का इस्तेमाल करते हैं। अपनी मोटी अक्ल की वजह से ऊँट बहुत ही कार-आमद जानवर है। एक बार इसे हाँक दीजिये, तो जब तक रोकिये नहीं, काम करता ही रहेगा। हमारे देश में हाथी से बड़ी ताकत ली जाती है। उनका ज्यादातर इस्तेमाल तो लकड़ी के इलाकों में होता है। लेकिन उसके जरिये बंजर जमीन और जंगल को साफ करके खेती का काम भी किया जा सकता है। वे ट्रैक्टरों के जैसा काफी काम कर भी लेते हैं। समझ-बूझ के लिहाज से वह लगभग आदमी जैसे होते हैं। लेकिन जहाँ पेड़ काफी तादाद में न हों, वहाँ उन्हें नहीं रखा जा सकता। एक हाथी का रोज का खर्च तीस रुपये के करीब पड़ेगा। जंगल में तो उसे रख सकना मुमकिन है और वहाँ उसकी ताकत का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। रंगून और ट्रावनकोर में हाथी लकड़ी ढोने के काम आते हैं। इस तरह हम अपने हाथ से काम कर लेने की ताकत से लेकर हाथी की ताकत तक की तरह-तरह की ताकतों का इस्तेमाल कर सकते हैं।

हमें यह भी ख्याल रखना है कि बुनियादी जरूरत की सब चीजें अपने ही देश में पैदा हो जायें। अगर ऐसा नहीं हुआ, तो इस बात का बड़ा भारी डर है कि मुसीबत के वक्त हम न घर के रहे, न घाट के।

ट्रैक्टर

आजकल ट्रैक्टर से खेती करने की बड़ी चर्चा है। जरा सोच-समझकर देखने से हमें असलियत का पता चलेगा। खेती महकमे के एक होशियार डाइरेक्टर साहब ट्रैक्टर की खेती पर लट्टू थे। वह हमारी सारी खेती ट्रैक्टर से कराना चाहते थे। ट्रैक्टर पेट्रोल या कच्चे तेल से चलते हैं, जो बाहर से मँगाना पड़ता है। मान लीजिये, लड़ाई छिड़ जाय, तो यह तेल या पेट्रोल कहाँ से आयेगा? अपनी खुराक की पैदावार के लिए बाहर की खींचू ताकत के आसरे रहना बहुत खतरनाक है।

इस वक्त ट्रैक्टरों के साथ एक दूसरी आफत भी है। वह यह कि मशीनें तो मिलती हैं, लेकिन उनकी दुरुस्ती नहीं हो सकती। दुरुस्ती के लिए अड्डे होने चाहिए। अगर आप उन्हें हिन्दुस्तान में इस्तेमाल करना चाहते हैं, तो वे अड्डे यहीं हों। इसके माने हैं कि हमारा आर्थिक संगठन एक खास दर्जे तक पहुँच गया, जो इस वक्त हमारे बूते के बाहर है। इसलिए हम जो ताकत इस्तेमाल करें, वह ऐसी हो, जो हमारी मौजूदा हालत के मुताबिक हो यानी हमारी बिसात में हो।

बिजली

कुछ हद तक हम बिजली भी रख सकते हैं। लेकिन बिजली के इस्तेमाल में हमें बहुत खबरदार होना पड़ेगा। हम ऊपर कह चुके हैं कि किस तरह दक्खिन अर्काट जिले में बिजली के इस्तेमाल का नतीजा यह हुआ कि हमारे गाँवों का पानी फलों की शक्ल में मद्रास, बम्बई, बँगलोर वगैरह भेज दिया गया और गाँववाले पानी को तरस गये। हमें यह देखना पड़ेगा कि हम किस तरह बिजली लगायें और इसके लगाने से लोगों को फायदा पहुँचेगा या यह उन्हें बरबाद कर देगी। अगर हम पम्प ही लगाना चाहते है, तो ऐसी जगह लगायें, जहाँ पानी मिलता हो। दक्खिन अर्काट जिले में 94 फीसदी पानी समुद्र में चला जाता था और सिर्फ 6 फीसदी धरती पर रुकता था। बिजलीवाले पम्प के तरीके से होता यह है कि वह 6 फीसदी पानी हम उनके लिए रिजर्व कर देते हैं जिनके पास पैसा या ताकत है और यह उनसे छीनकर, जिनके पास नहीं है। यह लुटेरे ढंग की अर्थनीति है। इसे जेब-कटाई कहना चाहिए। हम सिर्फ 6 फीसदी पानी पर हाथ लगाते हैं। लेकिन असली काम जो करने का है, वह यह कि समुद्र में चले जानेवाले 94 फीसदी पानी को रोककर जमा करें। लेकिन हम इस तरफ कोई ध्यान नहीं देते, क्योंकि पानी जमा करने के माने होंगे सिंचाई-काम करना, मगर यह ऐसी चीज है, जिससे व्यापारियों का जेब में कुछ पहुँचनेवाला नहीं। पम्प बिकने पर उनको कमीशन मिलता है। हमारा असली मकसद तो बारिश के

पानी को रोककर उसे काम में लाने का होना चाहिए। अगर पानी का लेवल उठाकर उसे सिंचाई के काम में लाया जा सके, तब तो कहना ही क्या है। लेकिन अगर हम इसे लूट-खसोट के काम में इस्तेमाल करते हैं, तो यह अनैतिक होगा, ज्यादती होगी।

हमें हर चीज को इस कसौटी पर कस लेना चाहिए। कोई-कोई चीज बहुत अच्छी हो सकती है, मगर गलत ढंग पर इस्तेमाल किये जाने से वह खतरनाक साबित हो सकती है। तीन बरस का एक बच्चा था। उसकी माँ खाना बना रही थी। बच्चे ने नियामतखाने के पास जाकर एक छोटी शीशी देख ली। उसने कार्क निकालकर एक गोली अपने मुँह में डाल ली। यह शकर लगी हुई मीठी थी। गोली मीठी लगने के कारण बच्चा एक के बाद एक गोली खाता चला गया—यहाँ तक कि 20 गोलियाँ खा गया। और गोलियाँ थी कुनैन की! जरा-सी देर में लड़के को कँपकँपी आ गयी और वह गिर पड़ा। डॉक्टर के आने के पहले ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इसी तरह से ताकत भी एक खतरनाक चीज है, जिसे हरएक के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता।

एक सूबे का जिक्र है कि वहाँ पर सरकार चाहती थी कि एक गाँव के करघे बिजली से चलें। बड़ी नेकनीयती से उसने यह तय किया। गाँव में एक हजार बुनकर थे। बिजली लगाने का नतीजा यह हुआ कि दो साल बाद बहुत-से बुनकरों ने तो अपना पेशा छोड़ दिया और बहुत-से गाँव छोड़कर चले गये। सारी आबादी तितर-बितर हो गयी। इसकी मिसाल यूँ दी जा सकती है कि बड़े ताकतवर इन्जिनवाली एक सुन्दर मोटर हो और उसके बराबर में दो बढ़िया बैलोंवाली एक गाड़ी हो। अब आप बताइये कि अगर बैलों को हटाकर वह इन्जिन उस गाड़ी में लगा दिया जाय, तो क्या हालत होगी? इन्जिन 60 मील की रफ्तार से चल तो सकता है, लेकिन बैलगाड़ी में उसकी जोड़ी कहाँ तक ठीक बैठेगी?

पहले जब साड़ी हाथ के करघे पर बुनी जाती थी, तो एक हफ्ते में एक साड़ी तैयार होती थी, यानी सालभर में पचास। हर साड़ी का दाम पचास रुपये के करीब होता था। साड़ियों के लिए रेशमी सूत की खरीदारी के लिए हर बुनकर को थोड़ी पूँजी की जरूरत पड़ती थी। यह साड़ियाँ शादी के मौकों के लिए बनती थीं और सहालग आने पर बिक जाती थीं। जब करघे बिजली से चलने लगे, तो बुनकरों में होड़ पैदा हुई। हर बुनकर करीब दो-दो सौ साड़ियाँ बनाने लगा। लेकिन इनकी खपत कैसे हो? बाजार तो दो सौ गुना बढ़ नहीं गया और न सहालग दो सौ गुना बढ़ाये जा सकते थे! नतीजा

यह हुआ कि यह साड़ियाँ सस्ते दाम पर महाजनों और दलालों को दे दी गयीं। बुनकरों के पास जो पैसा था, वह उन्होंने खर्च कर डाला और फिर साल के काफी बड़े हिस्से तक उनके पास रत्तीभर काम नहीं था। बहुत-से तो मजदूरी करने लगे। यह हुआ करघों में बिजली लगाने का करिश्मा। इससे महज सैकड़ों-हजारों की बरबादी होने के सिवा क्या मिला?

अगर ताकत का इस्तेमाल करना ही है, तो पहले यह जरूरी है कि लोग यह अच्छी तरह समझते हों कि उनके वसीले कितने हैं और फिर उन्हें इसका भी एक अन्दाज होना चाहिए कि किस रफ्तार से काम की निकासी होती है। अगर इस बड़ी रफ्तार से हम अपने को ठीक से नहीं बैठा पायेंगे, तो इससे हमें पैसे का घाटा तो रहेगा ही, हमारी बेचैनी भी बढ़ेगी। हमें यह सोच-समझ लेना चाहिए कि इस तरह की तेज रफ्तार की जिन्दगी की जरुरतें बहुत थोड़ी रहती हैं।

एक टेक्निकल स्कूल में बढ़ईगीरी सिखाई जाती थी। वहाँ पर जितनी मशीनरी थी, बिजली से चलती थी। जो मैनेजर था, उसे सारी पढ़ाई और सामान पर बड़ा नाज था। सीखनेवाले लड़के देहात ही के थे और उन सब मशीनों पर उन्हें काम बतलाया जाता था। स्कूल के शो-रूम में बढ़िया-बढ़िया सिंगारदान थे, आलमारियाँ थीं, कढ़ाई का काम था, चन्दन की लकड़ी का काम था वगैरह। लड़के यह भी नहीं जानते थे कि इस तरह का फर्नीचर कैसे इस्तेमाल किया जाता है। इंग्लैण्ड में इनकी खपत खूब होती थी। यह स्कूल अपने बच्चों की मेहनत को चूस-चूसकर लन्दन को सस्ता फर्नीचर भेज रहा था। आखिर में लड़कों को यह भी नहीं मालूम हो सका कि एक बैलगाड़ी कैसे बनाते हैं। ऐसी तालीम से क्या फायदा?

लड़कों की तालीम उनके निजी जीवन से सटी हुई होनी चाहिए। जो जिन्दगी उन्हें बितानी है, उसके लिहाज से हमें उन्हें वसीलेदार बना देना चाहिए। हमें यह एहतियात रखनी चाहिए कि उनकी तालीम से उनके गाँव के लोगों को कुछ फैज पहुँचे। जितना ज्यादा हम मशीनरी का इस्तेमाल करेंगे, उतना ही आड़े वक्त में हमारी मुसीबत बढ़ेगी।

आज इसी बेतुके ढंग से काम किया जा रहा है। पेट्रोल और तेल से चलनेवाला हम एक बड़ा कमाली बेड़ा बना लेनेवाले हैं। लेकिन यह पेट्रोल या तेल मिल सकेगा अपने दुश्मनों से ही! अगर गन-बोटों का बेड़ा हमारे पास हो, जो तेल से चलता हो और अमेरिका या इंग्लैण्ड से लड़ाई छिड़ जाय, तो तेल ही मिलना बन्द हो जायेगा। न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी। यह बेड़ेवाली ताकतें वही हैं, जिनसे कभी न कभी हमारी भिड़ंत हो

सकती है। यह मानना बेवकूफी होगी कि उनसे लड़ने के लिए यह ताकतें हमारे लिए लोहा, पेट्रोल वगैरह देती रहेंगी। हमें तो अपना आर्थिक ढाँचा ऐसी चीजों पर बनाना चाहिए, जो हमारे पास मौजूद हैं और उनको हम इस तरह से इस्तेमाल करें, जिससे दूर तक हमें फायदा हो।

जन-हित के साधन

क्या तार, टेलीफोन, हवाई जहाज वगैरह जरूरी नियामतें हैं? रेलों से बरकत ही बरकत हमारे यहाँ नहीं हुई है। हमें तो इसमें भी शक है कि रेलें मिलवाँ-बरकत साबित हुई हैं। उन्हीं की वजह से ज्यादातर अकाल पड़े। जब हम रेलवे से पहुँचनेवाली बुराइयों पर विचार करें, तो पता चलेगा कि रेलवेवाले इलाके में अकाल बहुत ज्यादती से बढ़ रहे हैं। पहले यह होता था कि गाँवों में दो-तीन साल के लायक अनाज रखकर फिर कोई माल बाहर बाजार में भेजा जाता था। रेलों के आने पर यह भण्डार चौपट हो गया और नतीजा हुआ यह अकाल, जो आये दिन घेरे रहते हैं। यह अकाल आदमी की करतूत हैं, बनावटी हैं। पहले जो अकाल पड़ते थे, तो कुदरती कारणों से—जैसे बारिश का न होना। आज जो अकाल पड़ते हैं, तो आदमी की हरकतों से और खासकर रेलवे की। हमारा देश, जो महज कच्चे माल पैदा करनेवाले देश में बदल गया, इसका जिम्मा रेलों पर है। आपको आने-जाने के सुभीते के साधन रखना है, तो खुशी से रखिये। मगर काफी एहतियात से और देख-भालकर उनसे काम लीजिये।

कुछ चीजें ऐसी हैं, जो इस्तेमाल की जा सकती हैं; लेकिन कण्ट्रोल में और माहिरों के हाथ में पड़कर वह जहर हो जाती हैं। बड़े-बड़े और कुंजीवाले कारखाने तो सरकार के मातहत रहने ही चाहिए। वैसे ज्यादातर लोगों को वह देशी ताकत इस्तेमाल करना चाहिए, जो उन्हें सहज मिल सकती है। जब बिजली हर जगह मिलती हो और हमने उस तरह की कार्रवाई के मुताबिक सब काम ठीक-ठीक कर लिये हों, तब उसका इस्तेमाल करें। लेकिन अगर ठीक-ठीक नहीं किया है, तो इससे हमें नुकसान होगा।

ताकत इस्तेमाल करने या न करने का सवाल मुकामी हालतों की रोशनी में सोचना चाहिए। इन सब मामलों में कोई पक्के नियम बाँध देना बहुत मुश्किल होता है। ऊँची ताकत की मशीनों पर हमें लट्टू नहीं हो जाना चाहिए। खतरा तभी पैदा होता है, जब हम यह भूल जाते हैं कि हमारे देश की हालत क्या है। अगर इन चीजों से हर किसी को फायदा न पहुँच कर इने-गिनों को ही पहुँचा, तो नतीजा यह होगा कि कुछ तो ठेकेदार बनकर मालामाल हो जायेंगे और कुछ एकदम गये-बीते।

बिखराव

आजकल जापान जिस तरह से ताकत का इस्तेमाल कर रहा है, उसमें लोगों की बड़ी दिलचस्पी है। इसको गैर केन्द्रीय ढंग कहा जाता है। लेकिन यह दरअसल पैदावार का बिखराव है। शहरों में ही सिमटे होने के बजाय जापान में इसे सब तरफ बिखेर दिया गया है। शहरों में पैदावार के ढंग के मुकाबले इसमें आदमी का कहीं ज्यादा शोषण होता है। यह शोषण की एक बारीक रीति है। हमें यकीन नहीं कि हिन्दुस्तान में हमारा काम इससे चल सकेगा। केन्द्रों के फैला देने से ज्यादा शोषण किये जाने के इमकान उस हालत के मुकाबले कहीं ज्यादा हैं, जिसमें काम कुछ खास केन्द्रों में ही किया जाय। उद्योग-धंधे जब बिखेर दिये जाते हैं, तो काम असल में किन हालतों में हो रहा है, यह हमें पता ही नहीं रहता और हम समझते यह रहते हैं कि सब धंधे खुद मुखतार ढंग से जुदा-जुदा चल रहे हैं। बाजार में चीज पहुँच सके, इसके लिए सब कारीगरों को एक केन्द्रीय संगठन का मुँह देखना पड़ता है। वे खुद किसी वक्त भी आजाद नहीं हो सकेंगे। इस तरह की अर्थनीति की बुनियाद इन्सान की बेहतरी न होकर माल तैयार कर लेना है।

ताकत का इस्तेमाल करना या न करना इन जैसी कई बातों पर मुनहसिर है। यहाँ पर तो थोड़े-से में हमने यह देख लिया कि ताकत का इस्तेमाल किया जाय या नहीं, किया जाय, तो कौन-सी ताकत का, किन हालतों में वह हमारे लिए फायदे की है, किन हालतों में उससे नुकसान पहुँचता है। ट्रैक्टर, पेट्रोल वगैरह चीजों से, जो तालाबी अर्थनीति में आती हैं, हिंसा ही आखिर में पैदा होती है।

गाय, बैल, घोड़े वगैरह से हमें ताकत भी मिलती है और खाद भी। एक आदमी के पास दो सौ एकड़ जमीन थी। एक ट्रैक्टर बेचनेवाले के पास 200 घोड़ों की ताकत का ट्रैक्टर था। वह उस आदमी को यह दिखाना चाहता था कि ट्रैक्टर से किस तरह चन्द दिनों में ही जमीन जुत जाती है। उसने किसान से जाकर कहा कि तुम खुद अपनी आँखों से देख लो कि जमीन जुती है या नहीं। आदमी गया और देखकर ट्रैक्टरवाले से पूछा कि दो सौ घोड़ों की लीद कहाँ गयी? ट्रैक्टर 200 घोड़े की ताकत का था और इसलिए 200 घोड़ों का गोबर चाहिए था। तब उसने बताया कि मुझे महज जमीन जुती हुई नहीं चाहिए, बल्कि खाद भी चाहिए। हमारे जानवर उपजाऊ बनाने की फैक्ट्रियाँ भी हैं और ताकत पैदा करने की इकाइयाँ भी हैं। हम इस तरह टुकड़े-टुकड़े में काम नहीं कर सकते कि ताकत एक जगह से लें, खाद दूसरी जगह से,

वगैरह। हमें अपनी अर्थनीति का समूचे तौर पर संगठन करना है। तभी उसे एकं तरीके या सिलसिले की चीज कहा जा सकेगा। पच्छिमी अर्थनीति को एक तरीके का या सिलसिलेदार संगठन कहना गलत है, क्योंकि उसमें सब काम टुकड़ों में होता है। अर्थनीति के सारे हिस्से एक-दूसरे में पिरोये हुए होने चाहिए।

सन् 1940-41 में ब्रिटेन पर एक बड़ी भारी आफत आ पड़ी क्योंकि वह खुराक के लिए दूसरे मुल्कों का आसरा लिया करता था। उस छोटे-से द्वीप में उस तरह का संगठन किये जाने का एक बहाना हो भी सकता था; क्योंकि वहाँ पर जगह की बहुत किल्लत है। ज्यादातर चीजें उन्हें बाहर से लेनी पड़ती हैं। जो चीजें वहाँ पर होती हैं, वे हैं कोयला, लोहा, इस्पात, जिनसे पेट की आग नहीं बुझा करती और इसलिए वे दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं।

लेकिन हम तो अपने देश के बारे में विचार कर रहे हैं, जो एक बड़ा भारी देश है, जहाँ तरह-तरह के साधन मौजूद हैं। इसलिए हम यहाँ पर बाहर से चीजें मँगाने का बहाना नहीं कर सकते, जब कि हम उन्हें खुद पैदा कर सकते हैं। हमारे पास जो वसीले हैं, उनसे हम हर चीज पैदा कर सकते हैं। बेकार या बरबाद जानेवाले नाम की कोई चीज ही नहीं होती। जो चीज एक जगह बेकार हो गयी, वह दूसरी जगह कच्चे माल का काम दे सकती है। हमको इसी आधार पर अपनी अर्थनीति को ढालना चाहिए। यह चीज दूसरे देशों में मुमकिन हो या न हो, लेकिन हिन्दुस्तान में जरूर मुमकिन है। जिन हालतों में हम लोग रहते हैं, उनके अन्दर बड़े-बड़े कारखानों से बरबादी होने का ही अंदेशा है।

काम

हर चीज का, हर काम का अपना-अपना असर होता है। हमें सिर्फ माल तैयार कर लेने के लिहाज से ही नहीं सोचना चाहिए। काम एक ऐसी चीज है, जिसके बारे में छानबीन करनी चाहिए और यह ठीक-ठीक मालूम कर लेना चाहिए कि इससे क्या फायदा होता है। अगर हमें इससे कोई फायदा नहीं पहुँचता है, तो इसके करने की कोई जरूरत नहीं। बाइबिल में कहा है, 'तू रोटी खायगा, तो अपनी चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर।' लेकिन आदमी कहता है कि मैं खाऊँगा तो जरूर, मगर पसीना नहीं बहाऊँगा। पसीना कोई दूसरा बहाता है, खाता वह खुद है।

हर काम के दो हिस्से होते हैं—एक उसको बनाने की मेहनत या शिस्त और दूसरे उसकी आखिरी तैयारी या आनन्दवाला हिस्सा। बेबीलोन वगैरह के बड़े-बड़े साम्राज्यों ने आदमी से उसकी बुनियादी चीज—उसकी आजादी—छीन ली। वह गुलामों से पसीना बहवाते थे और उस मेहनत का

मजा मालिक लोग उड़ाते थे। इसका शिस्तवाला हिस्सा गुलाम पूरा करते थे और आनन्दवाला बड़े लोग। नतीजा क्या हुआ? जिस तरह बदन को चंगा रखने के लिए कसरत या व्यायाम जरूरी है, उसी तरह हमारी तरह-तरह की शक्तियों के विकास के लिए काम करने की कसरत जरूरी है। अगर काम करना बन्द हो जाय, यानी शिस्तवाला हिस्सा खत्म, तो आदमी का पतन होने लगेगा। पुरानी सभ्याताएँ इसी वजह से नेस्तनाबूद हो गयीं। क्योंकि बड़े कहे जानेवाले आदमी खुद काम नहीं करते थे। उनकी संस्कृति गिरती ही गयी। अगर शिस्तवाले और संस्कृतिवाले हिस्सों को हम अलग कर देंगे, तो हमारा पतन लाजिमी है। गुलामों का पतन तो इस वजह से हुआ कि उन्हें चौबीसों घंटे बेगार करनी पड़ती थी और मालिक लोगों का पतन इस वजह से हुआ कि वे खाली मजा उड़ानेवाला हिस्सा अदा करते थे। लेकिन चलनी चाहिए दोनों चीजें साथ-साथ। खाली काम या खाली खेल से किसी का भला नहीं होता।

पुराने राजशाही दस्तूर में बड़े लोग किलों में रहते थे और गुलाम खेती करते थे। वह तरीका भी समय बीतने पर खत्म होकर ही रहा।

गुलामी लाने का एक ढंग और भी है। पैदावार के साधनों को अपनाकर अपने काबू में रखना। पूँजीवादी ढंग को देखिये। इसके तले आज दिन भी हम देखते हैं कि कौम की कौम, देश का देश राजनीतिक तौर से गुलाम है। इसी को साम्राज्यशाही कहते हैं। गुलाम या अपने दबे-बसे देश कच्चा माल पैदा करते हैं और उनके बल पर साम्राज्यशाही देश के लोग ऊँचा जीवन बिताते हैं। इसका भी आखिरी नतीजा तबाही है।

आज इंग्लैण्ड में अँधेरे जमाने के जैसी हालत है। विक्टोरियन जमाने के बारे में भले यह कहा जा सके कि तब वह बहुत खुशहाल था, लेकिन उस वक्त संस्कृति के लिहाज से सब में बुरी हालत था। साहित्य, संगीत, कला, नक्काशी वगैरह के लिहाज से इंग्लैण्ड का सबसे अच्छा जमाना एलीजिबेथन जमाना था, जिसे अंग्रेज बुरा जमाना कहते हैं। जैसे-जैसे कारखाने बढ़ते गये, उसकी संस्कृति गिरती गयी और जब संस्कृति गिरी, तो वह एक तीसरे दर्जे की ताकत बनकर रह गया। विक्टोरियन जमाने में उसकी ताकत बनी रही, क्योंकि पहलेवाली बुनियादें मजबूत थीं।

शख्सियत का विकास

मन-विद्या के बड़े माहिर, प्रोफेसर **साईरिल बर्ट** का कहना है, जो अक्ल के परखने में बहुत होशियार समझे जाते हैं कि चालीस बरस की खोज के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इंग्लैण्ड का बड़ी तेज रफ्तार से

पतन हो रहा है, जैसा कि जवान लोगों पर तजरबे करने से मुझे मालूम हुआ। हमारी निगाह से भी यह बात समझ में आती है। जितना ज्यादा हम कारखानों पर निर्भर करेंगे, उतना ही विकास का कम मौका लोगों को मिलेगा।

कारखानेदारी का असर आदमी पर अच्छा नहीं पड़ता, न इससे उसकी तरक्की होती है। नार्देम्पटन के एक कारखाने में, जो जूते बनाने का एक बड़ा केन्द्र है, मदद के चार्ज में एक मन-विद्या जानकार था। उस फैक्ट्री में मर्दों के जूते बनते थे। काम करनेवालों में एक बूढ़ा आदमी था, जो जूतों की एड़ी काटने के अलावा कुछ नहीं करता था। यह काम वह सैंतीस साल से करता चला आ रहा था। इतने अर्से के बाद भी वह एक होशियार जूता बनानेवाला नहीं बन सका। इन तैंतीस सालों में उसने पूरा कारखाना तक नहीं देखा था। इस तरीके से कितना जबरदस्त नुकसान इन्सान को पहुँचता है? हमारे अन्दर तरह-तरह की नसें हैं। हमें चाहिए कि हम पढ़ भी सकें, काम भी करें, खेलें भी, हँसें भी और सब तरह के काम करें, ताकि हम बढ़ें। जैसे जिस्म को खाना चाहिए, हमारी शक्तियों को काम चाहिए। जो धन्धा या रोजगार भी हम करें, वह ऐसा हो कि हमारी पूरी शख्शियत का विकास हो सके।

अमेरिका जैसे आजकल के देशों की हालत पर भी हँसी आती है। यह वह देश है, जहाँ यह सब बातें लोग अच्छी तरह समझते हैं। अपने तरीके से हँसने का एक अलग वक्त अमेरिकावालों ने निकाल लिया है। उनके मनोरंजन की पार्कों में एक जगह ऐसी रहती है, जिसमें सब कुर्सियों में बिजली दौड़ती है। जब लोग उन पर बैठकर स्विच आन कर देते हैं, तो कुर्सियाँ एक-दूसरे से चटखती हैं और तब क्या जोर का कहकहा लगता है! दिनभर की मेहनत के बाद जब वे थक जाते हैं, तो इस तरह आराम करते हैं! मेहनत या काम के बँटवारे का यही उनका तरीका है।

अगर काम के इस दस्तूर को हम खुराक के मामले में भी लागू कर दें, तो क्या होगा? खाने के लिए जो तरह-तरह की चीजें चाहिए, उन्हें लोग खरीदते हैं, फिर उन्हें पकाकर खाने के काम में लाते हैं। हमारा ढंग यह है कि इन चीजों को पत्ते या पत्तल पर अलग-अलग परसकर खाते हैं। बड़े-बड़े कारखानों के काम के बँटवारेवाले ढंग के मुताबिक इसमें भी खसूसियत होनी चाहिए, यानी एक आदमी सारा घी खाय, एक आदमी भात वगैरह। एक आदमी केवल एक तरह का काम करेगा। खुराक के मामले में इस तरह के बँटवारे का नतीजा यह होगा कि कोई भी जिन्दा नहीं बचेगा। सचमुच यह तरीका इन्सान के लिए एकदम निकम्मा है।

गैर-केन्द्रीय धंधों में हालत यह न होकर दूसरी होती है। एक स्कूल मास्टर था, जिसे चालीस रुपये महीना मिलता था, ऊपर से टोपियाँ सीकर वह कुछ और कमा लेता था। उससे कहा गया कि टोपी बना करके दिखाओ। वह अपना पिटारा ले आया। उसमें कुछ तो चिकन का कपड़ा था, जो इटली का बना था। कुछ साटन जैसा जापानी कपड़ा था, कुछ पिटौने बरमिंघम के थे। उसने कुछ अखबार के कागज लिये और उन्हें बिजली की शक्ल में काट लिया। साटन जैसा कपड़ा उसने काटा और फिर मशीन से कुछ डिजाइन उस पर बनाये। मास्टर ने जब टोपी बनाने का सामान खरीदा होगा, तो उसकी व्यापारी शक्तियाँ काम कर रही होंगी। इसके बाद उसकी आर्थिक शक्तियाँ काम में आयीं, फिर उसका हुनर वगैरह। इस बीच बरामदे में उसका बच्चा रो पड़ा। उसने अपना सब काम छोड़ दिया और अपनी बीबी को हल्के से डाँटा कि जब बड़े मेहमान आये हुए हों, तब तो बच्चे को यूँ नहीं रुलाना चाहिए। आप देखिये, यह बिल्कुल दूसरी चीज हुई और मनोरंजन भी! इस तरह आदमी की सभी शक्तियों को कुछ न कुछ काम या तरह-तरह से उसको शख्सियत जाहिर करने का मौका मिला—बीबी से लड़ने तक का भी! इस तरह से देहाती धंधों से इन्सान की सभी शक्तियों की परवरिश होती है।

बड़े-बड़े कारखानों से पूरे आदमी की बढ़ोतरी और उसकी शख्सियत के मुकम्मल विकास में मदद नहीं मिलती। काम का असर दिमाग पर पड़ता है और यह चीज काम किये जाने के महज बाहरी दिखाव से कहीं ज्यादा बड़ाई की है। हमारा इसरार जो चीजें हम बनाते हैं, उनके बना लेने पर नहीं; बल्कि आदमी को बढ़ानेवाली बातों पर होना चाहिए। गांधीजी ने तालीम का जो नया ढंग निकाला है, उसका आधार यही है। तालीम का उनका तरीका उनके काम करने की फिलॉसफी पर खड़ा हुआ है। आजकल का जो तालीम का तरीका है, उसमें इत्तला या बातें ठूँस-ठूँसकर बच्चे की खोपड़ी में भरी जाती हैं। कुल मिलाकर गौर करें, तो यह असली तालीम नहीं है। चाल-चलन तो कुछ बनता नहीं, लेकिन विद्या की लालटेन लिये इन्साइक्लोपीडिया बने हुए ऐसे पढ़े-लिखे लोग घूमा करते हैं।

रहन-सहन का हमारा तर्ज ऐसा होना चाहिए, जिसके जरिये हम अंदर की बुलंदी को जाहिर कर सकें। वह तर्ज उन जरूरतों के बढ़ने का नतीजा नहीं होना चाहिए, जो आजकल बनावटी तौर पर पैदा की जा रही है। यह दूसरा ढंग रहन-सहन का मान ऊँचा नहीं करता। जरूरतों के बढ़ने को रहन-सहन का ऊँचा मान कहना गलत है। चर्चिल और गांधीजी का मिलान कीजिये। गांधीजी की निगाह में चीजों का एक मान था और ऊँची बातों पर

उनका ध्यान जमा रहता था। यह है, जिसको हम ऊँचा मान कह सकते हैं, जो हमें जानवरों से जुदा करता है। लेकिन चर्चिल क्या करता है? सिगार मुँह में लिये घूमता है, मानो ऐश-आराम का महत्त्व बता रहा हो। यह रहन-सहन का पेंचीदा तर्ज भले ही हो, मगर ऊँचा तो हरगिज नहीं है। पेंचीदा तर्ज एक चीज है, ऊँचा तर्ज दूसरी। गांधीजी का सादा, लेकिन ऊँचा तर्ज था, चर्चिल का उस लिहाज से पेंचीदा, लेकिन गिरा हुआ। सेवा ऊँचा आदर्श है, ताकत या सत्ता की खातिर काम करना नीचा तर्ज है।

मन-विद्या के लिहाज से बड़े कारखानेवाले रहन-सहन के इस माद्दी तर्ज का दिखावा करके नये-नये बाजार बनाने की कोशिश करते हैं। लोगों के सामने वह एक फैशन पेश कर देते हैं, जिसकी नकल अंधाधुंध की जाती है। जिस हद तक लोगों ने उस फैशन को अपनाया, उतना उनका व्यापार सफल हो गया। अगर कारखानेदार फैशन बदल सकते हैं, तो वह नयी-नयी चीजें बनाकर अपने लिए बढ़िया बाजार पैदा कर लेते हैं। ग्राहकों की बेवकूफी पर ही यह लोग फलते-फूलते हैं।

जमीन पर बैठकर केले के पत्ते पर खाने से रहन-सहन का तर्ज कोई गिर नहीं जाता। हमें वह पत्ता धोना भी नहीं पड़ता, खाया और फेंक दिया। अगर काँटे-चम्मच से खाया जाय, तो इसके माने हैं ढेर चीज धोओ और साफ करो। आजकल हमारा जीवन दिन-दिन पेंचीदा होता जा रहा है। हमें यह तमीज करना चाहिए कि रहन-सहन का ऊँचा तर्ज क्या है, नीचा क्या है। सादे जीवन के इस नजरिये से तो रहन-सहन ऊँचे तर्ज की खातिर बड़े कारखानों की जरूरत नहीं है।

हमने देखा कि पैदावार के ढंग के लिहाज से, बड़े कारखानों से बरबादी होती है। इन्सान के विकास के लिहाज से बड़े कारखाने एक रुकावट हैं। आदमी मशीन होकर रह जाता है। अक्सर तो इन कारखानों में ऐसी चीजें बनती हैं, जिनकी हमें कोई जरूरत भी नहीं रहती। अगर हम यह जानते हैं कि जरूरतें बढ़ाने से रहन-सहन का तर्ज ऊँचा हो जाता है, तब इस तर्ज की तरक्की के लिए बड़े कारखानों की जरूरत नहीं पड़ेगी।

कुछ चीजें ऐसी हैं, जिनके लिए बड़े-बड़े कारखानों का इस्तेमाल हो सकता है। हम यह नहीं कहते कि इन्हें एकदम मिटा दिया जाय। इनको जबरदस्ती की आफत मानकर हमें चलना चाहिए। अगर आप जल्दी-जल्दी माल ले आना और ले जाना चाहते हैं, तो यह एक सिर-पड़ी बुराई की शक्ल ले लेते हैं। बड़े कारखाने एक बुराई हैं। कुछ हालतों में हम इसे भले बर्दाश्त कर लें। अपने जीवन में हम खाना भी खाते हैं, जहर भी खाते हैं।

बड़े-बड़े कारखाने हम रखें, लेकिन उनसे निकले माल को अलमारियों में सजाकर रख दें और उस पर 'जहर' की चिप्पी लगा दें। तब हम उनको बड़ी एहतियात और मुनासिब कण्ट्रोल के मातहत इस्तेमाल करेंगे। बड़े पैमानेवाले कारखाने राज्य के कण्ट्रोल में होने चाहिए, न कि निजी आदमियों के। उन्हें मुनाफे की खातिर न चलाकर सिर्फ सेवा के ख्याल से चलाना चाहिए। अगर हम ऐसा संगठन बनायें, जिसमें बड़े-बड़े कारखानों को जगह हो, तो हमें यह तय कर लेना चाहिए कि क्या-क्या चीजें ऐसी हैं, जिनके लिए उनकी जरूरत है। हमारे आर्थिक ढाँचे का वह हिस्सा बिल्कुल कण्ट्रोल में रखा जाय। इसके खिलाफ, छोटे-छोटे धंधों को खुला आजाद छोड़ दिया जाय, ठीक उस तरह से, जैसे अनाज आम तौर से कण्ट्रोल में नहीं रहा करता है, लेकिन दवाओं को, खासकर जहर को, कण्ट्रोल में रखा जाता है। अपने आर्थिक ढाँचे के दस्तकारीवाले हिस्से में बड़े-बड़े कारखानों को पहलू-दर-पहलू रखना चाहिए और उनका इस्तेमाल तभी हो, जब कि जरूरत पड़े। उनका इस्तेमाल एक खास नपे-तुले मकसद के लिए होना चाहिए, न कि गिने-चुने लोगों द्वारा पैसा बनाने के लिए, जो बाजार को फालतू चीजों से पाट देते हैं।

समाजवाद, साम्यवाद और गांधी-अर्थनीति : 5 :

बहुत सारे 'वाद' तो एक तरह के संगठन हैं, जो आम भलाई के लिए बनाये गये हैं। अपनी अच्छी हालत में ऊपर से देखने पर साम्यवाद का मकसद किसी चीज में भी गांधीवाद से कम नहीं है, लेकिन साधन या ढंग में जमीन-आसमान का फर्क है। माद्दी या भौतिक सतह पर यह फर्क भले न दिखलाई पड़े, लेकिन हमें केवल माद्दी सतह न देखकर नैतिक, रूहानी और सामाजिक सतह पर भी देखना चाहिए। माद्दी और सामाजिक सतह पर वे करीब-करीब एक-से मालूम हो सकते हैं। लेकिन जब हम नैतिक और रूहानी मान के इस्तेमाल पर आते हैं, तो फर्क पड़ना शुरू होता है। समाजवाद और साम्यवाद में राष्ट्र को एक इकाई समझा जाता है। हिन्दुस्तान का व्यापार एक इकाई थोड़ी है। यह तो बिरला, टाटा, डालमिया और ऐसे अनगिनत आदमियों से मिलकर बना है। जब हम हिन्दुस्तान के व्यापार या हिन्दुस्तान की दौलत की चर्चा करते हैं, तो हमारा मतलब एक-सी चीजों से नहीं होगा। हमें तो गरज आदमियों से है, न कि सारे हिन्दुस्तान को कुल एकमुश्त लेने से। उसमें रहनेवाले इन्सानों से अलग हिन्दुस्तान नाम की कोई चीज है ही नहीं। और इन्सान ही अमेरिका, इंग्लैण्ड और दूसरे हर देश में रहते हैं। हमारा नजरिया संसारव्यापी होना चाहिए।

इस चीज में गांधीवाद और समाजवाद में बहुत बड़ा भेद है। जब हम इंग्लैण्ड में हों, तो वहाँ हमको—चाहे हम हिन्दुस्तानी ही क्यों न हों—वहीं का बना खाना खाना चाहिए, क्योंकि हम तो स्वावलम्बन के अलमबरदार हैं। इस तरह जब हिन्दुस्तान में हैं, तो हिन्दुस्तान का माल इस्तेमाल करना चाहिए। विदेशों से मँगाया हुआ खाना हमें नहीं खाना चाहिए। इसकी वजह यह है कि राजनैतिक हदें बनने से झगड़े पैदा होते हैं और विदेशी व्यापार का आधार अक्सर हिंसा होता है। हम इन्सान हैं, आदर्शों की इकाई ही केवल नहीं। हमारा नजरिया राष्ट्रीयता का नहीं है। बिना जुदा-जुदा हिस्सों के समूह के कोई माने नहीं होते। उस लिहाज से समाजवाद कुछ ओछी चीज है और साम्यवाद भी। उनका आदर्शवाद एक खास हद में बँधा हुआ है।

गांधीवाद का मकसद व्यक्ति या इन्सान का विकास है। सवाल यह नहीं है कि हमारे घर में कितनी कुर्सियाँ और मेजें हैं। साम्यवाद का इसरार यह

है कि कुछ भी हो, माद्दी हालत अच्छी होनी चाहिए, दूसरे आदमियों को चाहे सता लिया जाय। राष्ट्रीय समाजवाद के ख्याल से इन्सान महज राष्ट्र की खातिर जीते हैं, इसके खिलाफ गांधी-विचारधारा में राष्ट्र हर इन्सान की मदद करने के लिए एक साधनभर है। उसका विकास हर तरह का होना चाहिए—रूहानी, नैतिक और आर्थिक। जहाँ तक माद्दी खुशहाली की बात है, साम्यवाद और गांधीवाद में कोई फर्क नहीं है। लेकिन फर्क तब पैदा होता है, जब हम नैतिक विचार से देखते हैं। एक व्यक्ति होने के नाते हर मर्द या औरत की अपनी नैतिक जिम्मेदारी होती है। अगर कोई सामाजिक योजना ऐसी है, जो हमारी ऊँची तबीयत को भाये और रूहानी व नैतिक दर्जों के ख्याल से हमारी कल्पना से मेल खाये तब वह ठीक है। अगर ऐसा नहीं है, तो हमें हाथ समेट लेना चाहिए। बस, यहीं असहयोग आ जाता है।

लेकिन समाजवाद या साम्यवाद में तो हमें वही करना पड़ता है और उसी लकीर के फकीर बनना पड़ता है, जो हमसे कहा जाये। राष्ट्र या समाज ही सब कुछ समझा जाता है। लेकिन हमारे यहाँ व्यक्ति को रूहानी हस्ती समझा जाता है और राष्ट्र का काम यह समझा जाता है कि व्यक्ति की शख्सियत के विकास में मदद दे। अगर हमारी माद्दी अच्छाई का बन्दोबस्त न भी हो सके, तो भी कोई बात नहीं। साइकिल की सवारी तक एक ऐसा काम हो सकता है, जिसमें फौजशाही को मदद मिलती है। लड़ाई के जमाने में टैंक, तोप और दूसरे सामान सभी आर्मामेण्ट फैक्ट्रियों में बना करते हैं। अगर शान्ति-काल कहे जानेवाले समय में उन्हें बन्द रखा जाय, तो मशीनों पर जंग लगने लगेगी। इसलिए ऐसे समय पर उनसे कुछ तो फौजी सामान बनाया जाता है और बाकी बाजार में खपनेवाली चीजें। इस तरह उनके मालिक अपना ध्यान साइकिल जैसी सबकी जरूरत की मांग पूरी करने में लगते हैं। जब हम दो सौ रुपये की एक बी० एस० ए० साइकिल खरीदते हैं, तो हम उस आर्मामेण्ट फैक्ट्री को चलाने का थोड़ा-बहुत फौजी खर्च बर्दाश्त करते हैं। यह ऐसी बात है, जिस पर गांधीवाद में ध्यान दिया जाता है, समाजवाद या साम्यवाद में नहीं।

लश्करबन्दी

चीजों के गांधीवादी ढाँचे में कुछ-कुछ गुञ्जाइश लश्करबन्दी की भी है। गाँधीजी चाहते थे कि हर कोई सूत काते। यह लश्करबन्दी हुई। मगर यह अपनी खुशी की लश्करबन्दी है। शिस्त या संयम के तौर पर हम रोज एक घंटा सूत कातते हैं। इसके माने हैं, जो आदर्श हमारे समाने है, उसके साथ हम जोरदार सहयोग कर रहे हैं।

समाजवाद के अन्दर बड़े-बड़े कारखानों को समाज के सुपुर्द किया जा सकता है। उसमें जैसा हम देख चुके हैं, यह होता है कि आदमी को मशीन का पुर्जा बना दिया जाता है, ताकि पैदावार बनी रहे। वे माद्दी या भौतिक निकासी की रोशनी में आँकते हैं। गांधीजी का आदर्श है कि आदमी के अपने विकास की रोशनी में आँका जाय। कुछ लोग ऊँची और कुछ नीची बिसात के हो सकते हैं। ऊँचेवाले को चाहिए कि नीचेवालों की मदद करे। हम सब अपने को एक खानदान समझें। न कोई चिट्टा-गोरा है, न काला है न भूरा, न चीनी न जापानी। इन बातों का हम कोई ख्याल ही नहीं करते। हम किसी खास चीज को इस वजह से इस्तेमाल नहीं करते, क्योंकि वह जापानी है। बंग-भंग के बाद जो देशभर में बहिष्कार हुआ था, तो हर अंग्रेजी चीज का बहिष्कार किया गया था। समाजवाद या साम्यवाद में वह बहिष्कार ठीक हो सकता है। उसका आधार नफरत था और वह असल में राजनैतिक था। आखिर में तो उससे हिंसा जरूर पैदा होनेवाली थी। गांधीवादी ढाँचे के अन्दर अगर हम किसी विदेशी चीज का इस्तेमाल नहीं करते हैं, तो इस वजह से कि न तो हमें उस चीज की बाबत कुछ मालूम होता है, न हम उसका मान आँक सकते हैं और न हम उन हालतों का अन्दाजा लगा सकते हैं, जिनमें वह इतनी दूर तैयार की गयी। अगर हम मिट्टी का तेल इस्तेमाल करते हैं, तो बर्मी गुलामी में हम साझीदार बन जाते हैं, क्योंकि जहाँ से तेल आता है, उस बर्मा को उसके साधन निचोड़ लेने के वास्ते गुलाम बनाया गया। ऐसा बहिष्कार अहिंसक होगा। इसको हम अहिंसक स्वदेशी भावना कह सकते हैं। बंग-भंगवाली स्वदेशी हिंसक स्वदेशी थी। गांधीवादी प्रोग्राम, जिसमें बाहर की चीजों का इस्तेमाल किया ही नहीं जाता है, अहिंसक स्वदेशी है।

इस तरह हम देखेंगे कि हमारे हर काम में जिन बातों का लिहाज हम करते हैं, वे नैतिक और रूहानी हैं, न कि केवल माद्दी या भौतिक और राजनैतिक। उन कामों से हमें बचना चाहिए, जिनका आखिरी नतीजा लड़ाई होगा। लड़ाई के आधार नफरत, लालच और ईर्ष्या हैं।

जब हम नैतिक बातों का लिहाज करने लगते हैं, तब उस हालत में समाजवादी या साम्यवादी राज्य और गांधीवादी राज्य के ढाँचों में बड़ा भारी फर्क आ जाता है। संगठनों तक में कुछ फर्क रहता है। फर्क जो पड़ जाता है, वह इस बात से कि हम किस ढंग से काम कर रहे हैं। अगर पैदावार का हम केन्द्रीय ढंग चाहते हैं, तब तो हमें लश्करबन्दी के लिए तैयार रहना चाहिए, जिससे तानाशाही लानेवाली सूरतें पैदा होती हैं। 'हमें इससे कोई सरोकार नहीं कि क्यों करें; हमारा काम तो बस करना और मर जाना है।'

गांधीवादी अर्थनीति के अन्दर हर आदमी परमपिता परमात्मा के प्रति जिम्मेदार रहता है। ऐसी हालत में तो हमें अपनी भीतरी आवाज के सहारे काम करना होगा। संयम और पाबन्दी के जरिये हमें यह तमीज कर लेना चाहिए कि क्या सही है और क्या गलत।

इसके बाद सिविल असहयोग का नम्बर आता है। उसके नतीजे भुगतने को दिमाग तैयार रहना चाहिए। गांधी-अर्थनीति का आधार ही नैतिक और रूहानी शक्तियाँ हैं। इसके अन्दर व्यक्ति ही सब कुछ है। हर व्यक्ति की एक दैवी शख्सियत समझी जाती है। हर व्यक्ति या इन्सान अपने अन्दर की जो अमर या सनातन चीज है, उसका प्रतिनिधि समझा जाता है। नहीं तो हम सब एक अजायबघर से भी गये-बीते हो जायें। जानवरों से हम उसी हद तक ऊँचे माने जा सकते हैं, जिस हद तक हम अपनी ऊँची तबीयत को तरक्की दे सकें। जब आर्थिक और सामाजिक संगठन इस तरह रचे गये होते हैं कि उनसे आदमी के अपने विकास और शख्सियत में मदद मिलती है, तब इसको हम गांधीवादी सामाजिक ढाँचा कह सकेंगे। साम्यवाद, समाजवाद और गांधीवाद में यही फर्क है।

माद्दी या भौतिक लिहाज से भी—जो नैतिक और रूहानी से गिरे हुए दर्जे पर है—इनमें कुछ फर्क है। आखिर में हमारी गरज भी कुल समाज की भलाई से है। लेकिन इस हालत में बड़ा फर्क पैदा हो जाता है, जब हम समाज को गांधीवादी आदर्श के मुताबिक व्यक्तियों से बना हुआ समझते हैं। उसके अन्दर समाज को व्यक्तियों का एक समूह माना जाता है और व्यक्ति कैसे?—जो ऐसे समाज को बनाने में जुटे हुए हैं। लेकिन समाजवाद के अन्दर शख्सी विकास करना कोई जरूरी मन्शा नहीं रहती। कभी-कभी तो वह इसके एकदम खिलाफ भी जा सकता है।

गांधीवादी-अर्थनीति

अब हम गांधीवादी समाज की तस्वीर पेश करेंगे। इसमें संगठन इस तरह का होगा, जिसमें अपनी जरूरत की सब चीजें—जैसे खाना, कपड़ा मकान, एक तरह से तालीम भी और दूसरी जरूरतें—लोग मिलकर खुद पैदा कर लेते हैं। इनको पैदा करने का ढंग गैर-केन्द्रीय कण्ट्रोलवाला होता है। कण्ट्रोल जितना ज्यादा होगा, गांधीवादी आदर्श से चीज उतनी ही हट जायेगी। अगर खुद कण्ट्रोल और खुद शिस्त या संयम का आदर्श न रहा, तो सब-का-सब बंटाधार ही हो जायेगा। मिसाल के तौर पर देखिये कि इमारत बनने के पहले उसका नक्शा खींचा जाता है। उसके मुताबिक एक राज किसी कोने में बैठा काम करता है। लेकिन वह बंटाधार नहीं है, क्योंकि

इन्जीनियर ने यह हिसाब लगा लिया कि कहाँ क्या चीज बनती है। हर कारीगर उस नक्शे के मुताबिक काम कर रहा है, नक्शा सबको कण्ट्रोल करता है। इसी तरह से हमारे जीवन को कण्ट्रोल करनेवाली जो योजना है, उसका नाम है अहिंसा के जरिये सत्य की प्राप्ति। इसमें बंटाधार नहीं हो सकता, क्योंकि यह अटल उसूल है। इनका न आदि है न अंत। सर्वव्यापी योजना में बंटाधार हो ही नहीं सकता। हर आदमी का नाता उस ताकत से जुड़ा रहता है, जिसके बल पर सबका जीवन निर्भर है। कलकत्ता, मद्रास और बंबई में बिजली की ट्राम चलती हैं। इनको कण्ट्रोल करने के दो ढंग हैं। जब तक वह नीचेवाली रेल पर रहती हैं और ऊपर जानेवाले तार से उनका संबंध रहता है, तब तक वह रास्ते से नहीं हट सकतीं। जहाँ हटीं कि संबंध गया। इसी तरह से जब तक हमारा सम्बन्ध एक तरफ अमर शक्ति से और दूसरी तरफ नीचेवाले रास्ते से बना रहता है, कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती। जिस तरह इन्जीनियर के बनाये नक्शे के मुताबिक काम करने से राजगीर बिना गलती किये ठीक-ठीक इमारत बनाता चला जाता है, उसी तरह खुद-कण्ट्रोल और खुद-शिस्त पर चलनेवाला आदमी कोई गलती नहीं कर सकता। उसका वास्ता तो आला दिमाग और आला राज से रहता है। हमारी योजना कुछ ही क्यों न हो, अगर हम खुद-कण्ट्रोल और खुद-शिस्त के जरिये इसे अहिंसा और सत्य की प्राप्ति की तरफ—जो सचमुच असली योजना है—ले जायेंगे, तो हम सबके काम में एका भी पैदा हो जायगा और बाकी समाज के साथ हम घुल-मिलकर एक-रूप भी हो जायेंगे। गड़बड़ तभी होगी, जब आदमियों में काबलियत न हो और यह बुनियादी शर्तें वह पूरी न करते हों। इसलिए गांधीवादी समाज के अन्दर हर व्यक्ति को अपने विकास की पूरी-पूरी गुञ्जाइश मिलती है और साथ ही साथ गड़बड़ हो जाने का खतरा भी खत्म हो जाता है।

अब इस आधार पर जुटबन्द काम के लिए हम योजना बना सकते हैं। पहली जरूरत खाने की है। खाना पैदा करने के लिए हमको सहयोग के आधार पर संगठन करना चाहिए। हमें यह जानना चाहिए कि हम चाहते क्या हैं। संतुलित खुराक नाम की एक चीज होती है। इसमें महज अनाज ही का बोलबाला नहीं रहता, बल्कि इसे दूसरी चीजों के साथ मिलाकर खुराक को मुकम्मल किया जाता है। गेहूँ के अलावा थोड़ी-सी चिकनाई भी होना चाहिए। कुछ धातुओं की भी जरूरत है। लेकिन अनाज में धातु बहुत कम रहती है, तो उस कमी को पूरा करने के लिए सब्जी और फलों का हम इस्तेमाल करेंगे। गेहूँ तो हमारी जरूरी खुराक रहेगा। उसके साथ में घी,

फल, सब्जी और ऐसी ही कुछ चीजें लेंगे। मान लीजिये कि 4000 आदमियों के लिए संतुलित खुराक चाहिए, तो हम हिसाब लगायेंगे : प्रति व्यक्ति आध सेर गेहूँ के हिसाब से 50 मन गेहूँ चाहिए। इसी तरह से दूसरी चीजों का अन्दाज कर लिया। कुल जरूरतें देख लेने के बाद अब यह हिसाब लगाया कि कितनी जमीन में गेहूँ बोया जाय, कितने में क्या चीज। तब हमें यह मालूम हो जायेगा कि गेहूँ के लिए इतनी जमीन चाहिए, सब्जी के लिए इतनी, वगैरह। मान लीजिये, बारह हजार एकड़ की जरूरत पड़ी। इसके मिलने पर जुताई करेंगे। अब मिट्टी तरह-तरह की हो सकती है। जो जमीन हमारी जरूरत की जिस चीज के लिए मौजूँ हो, उसमें वही चीज बोयेंगे। यह हो सकता है कि जरूरत के लायक कपास हम उसमें पैदा न कर सकें। इसके बजाय हम सब्जी ही उगा लें और जो हमारे पास बेशी चीजें बचें, उनके एवज में किसी दूसरे से वह चीज ले लें जो उसने पैदा की हो और जिसकी हमें जरूरत हो, लेकिन हमारे पास वह हो नहीं। इस तरह से हमें अपनी सारी खेती का सिलसिला बैठाना है। इसको संतुलित खुराक के नाम के आधार पर संतुलित खेती कहा जाता है। इस रीति से हम अपने दायरे के अन्दर ही अपनी जरूरतें पूरी कर लेंगे या इसमें कुछ चूक बाकी रही, तो बाहरवालों के सहयोग से उसे पूरा कर लेंगे। इस चीज के लिए हमें हरएक का सहयोग मिलना चाहिए। सारा व्यापार हम बन्द कर देंगे। सब लोगों या कुनबों की पैदावार एक भण्डार में—जिसका नाम होगा बहुधंधी सहयोगी सोसाइटी—जमा कर ली जायेगी। मान लीजिये, एक आदमी को तेल की जरूतर पड़ी, तो उसने जो गेहूँ बढ़ती उगाया होगा, उसके एवज में उसे तेल देने की कोशिश की जायेगी। सहयोगी सोसाइटी उन किसानों से, जो तिलहन उगाते हैं, सब तिलहन लेकर जमा कर लेगी। तेली लोग तो तिलहन नहीं पैदा करते। वह बीज सहयोगी सोसाइटी से लेकर तेल निकालेगा। उस आदमी को कुछ मजदूरी नहीं दी जाती। नकदी की शक्ल में उसे मेहनत के दाम नहीं मिलते। तैयार होने पर तेल भी सहयोगी सोसाइटी में पहुँच गया और खली तेली के पास रही। पिछले जमाने में मजदूरी का यह तरीका खूब अच्छी तरह चलता था। आज भी गाँवों में कहीं-कहीं इसका रिवाज है।

सारी की सारी मजदूरी सबके भण्डार से सहयोगी तरीके पर दी जाती थी और इस भण्डार में से हरएक को समाज की सेवा करने के सिले में कुछ-न-कुछ मिल जाता था—नाई को, भंगी को, धोबी को, मोची को, हर किसी को। खलिहान के समय सबके भण्डार से गाँव के हर सेवक को—मास्टर तक को—अपना-अपना कोटा दे दिया जाता था। यह उसे अपनी सेवा के एवज में मिलता था। उस जमाने में बहुत सारे उस्तरे तो लोग रख नहीं सकते

थे। हज्जाम के पास एक उस्तरा होता था, जिसके जरिये वह हजामत बनाने का यानी एक खास तकनीकी काम करता था। लुहार इस्पात और लोहा बनाता-ढालता था। उस्तरा भी वही बनाता था। अगर हर कोई एक-एक उस्तरा रखने लग जाता, तब तो ढेर लोहा-इस्पात बरबाद होता। हमारे पुराने संगठन में गाँववालों को अपनी-अपनी सेवा के सिले में अपना कोटा या कम-से-कम मजदूरी—सबके भण्डार से मिल जाता था। मोची हर आदमी के लिए साल में चप्पल का एक जोड़ा बनाकर दे देता था। चमार हर किसान को एक खाल दिया करता था। अगर किसी को बढ़ती चप्पल चाहिए, तो इसके लिए उसे अलग से चुकाना पड़ता था। हर गाँव के सेवक की परवरिश करने का ख्याल उस भण्डार से रखा जाता था। आज बहुधंधी सहयोगी सोसाइटियाँ हैं, जो सचमुच ऐसे आर्थिक केन्द्र बनायी जा सकती हैं, जिनसे सारे कुनबे या लोगों के लिए ठीक से बन्दोबस्त किया जा सके। इस तरह हमने देखा कि किस तरह एक आर्थिक संगठन के जरिये हम सब जरूरी चीजें पैदा कर ले सकते हैं।

मान लीजिये, कोई बड़ा काम है, जिसमें हजारों आदमी लगे हैं, तो उनकी खातिर हमें तरह-तरह के माहिर, जैसे इन्जीनियर वगैरह रखने पड़ेंगे। हमारे पुराने निजाम में सिंचाई या आबपाशी योजनाएँ चलती थीं। सिंचाई के कारण जमीन के उपजाऊपन की एक खास तादाद में गारंटी होती जाती थी। उस वक्त एक तरीका चालू था, जिसे दुहेरा-तालाब-तरीका कहते हैं। इसमें यह होता था कि पानी पहले एक छोटे तालाब से भरा जाता था। पानी के साथ मिट्टी भी आयी। यह मिट्टी उस तालाब में बैठ जाती थी और साफ पानी ऊपर-ऊपर से दूसरे या बड़े तालाब में ले जाया जाता था। इस दूसरे तालाब में सब पानी जमा करके रख लेते थे और नहरों के जरिये इससे पानी लेकर सिंचाई करते थे। पहले तालाब की मिट्टी कुछ किसानों के हवाले कर दी जाती थी। वे किसान इस जमी हुई मिट्टी में से अपना हिस्सा निकालते वक्त इसे अच्छी तरह निचोड़ लेते थे। दूसरे तालाब में मिट्टी नहीं पहुँचती थी और इसलिए वहाँ साफ पानी जमा हो जाता था। यह देखिये—वहाँ पर सेवा और स्वार्थ सबके भले की खातिर साथ-साथ चल रहे हैं। बड़े तालाब में मिट्टी नहीं जमने देना समाज की सेवा है। कुदरत का मजदूरी देने का यही तरीका है। मान लीजिये, मेले का दिन है। लोगों ने खाया-पिया और जूठन छोड़ दी। कौवे आये और उसे साफ कर गये। इसमें 'काम और मजदूरी' दोनों शामिल हैं। चींटियाँ आकर बिखरी हुई शकर साफ कर डालती हैं। हमारे पुराने संगठन का आधार ही यह था कि मजदूरी अलग से नहीं देनी पड़ती थी। इन्हीं उसूलों पर हमें अपने समाज का दोबारा

संगठन करना चाहिए—एक जमाने में जिस सभ्यता में हमने आनन्द लूटा था, उसकी हालतों और अच्छी चीजों का हमें मनन करना चाहिए। लेकिन हम तो दिन पर दिन जंगली होते चले जा रहे हैं।

अपने नये समाज में हम इन समाजी उसूलों को बरतना चाहते हैं। अगर हमें यह जरूरत है कि पानी एक खास दिशा में जाय, तो हमें सिर्फ यही करना है कि पानी के बहाव का लेवल ठीक कर दें। इसी तरह से हमें अपने सामाजिक ढाँचे को इस ढंग से तरतीब देना है कि आदमी अपनी खातिर भी काम करता रहे और समाज की खातिर भी। हमारी पंचायतों को आम सेवाकार्यों के लिए ट्रेनिंग दी जानी चाहिए। 20-30 गाँवों के लिए एक पंचायत हो सकती है। पहले हम तहसील को लेकर काम करें, फिर जिला, तब सूबा और आखिर में सारा देश। सिर्फ इसी ढंग से हम एक कौमी या राष्ट्रीय सरकार खड़ी कर सकेंगे। अपना काम करने में जो लोग होशियार हैं, वही अपनी खूबी और मेहनत के मुताबिक काम करते-करते आगे बढ़कर ऊपर पहुँच जायेंगे। पहले जमाने में राज्य इसी तरह चला करते थे। हमको इतिहास इसी रोशनी में पढ़ना चाहिए, न कि यह कि कुछ तारीखें और इधर-उधर की बातें घोट लीं। इन चीजों को हम समझें और अपने जीवन में उन्हें उतारें।

हमारी यह जरूरतें ठीक तरह से तभी पूरी हो सकेंगी, जब लायक आदमी इनको हाथ में उठायेंगे। उनमें जोश और जान डालकर हमको चाहिए कि उन्हें मैदान में लायें, ताकि वह देश की जरूरत समझकर शौक से काम करें। गाँव के ढाँचे की हमारी तस्वीर मोटे तौर पर यही है। इससे पता चलता है कि जो आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय संगठन हम खड़ा करना चाहते हैं, उसका नक्शा क्या होगा। इससे यह भी मालूम होगा कि हमारे संगठन की बुनियाद लोगों के चाल-चलन पर है और इस चाल-चलन का आधार सेवा और कर्त्तव्य-पालन है। यही वह चीज है, जिसके जरिये इन्सानी समाज अहिंसा और सत्य की तरफ लगातार आगे बढ़ सकता है।

आखीर

: 6 :

पिछले परिच्छेदों में हमने देखा कि इन्सान की कमाई का मकसद केवल माद्दी या भौतिक सुख पाना नहीं है, बल्कि अपना नैतिक या रूहानी विकास करना है। अगर उस कमाई से इन्सान की निजी शाख्सियत का या उसका नैतिक व रूहानी विकास होता है, तब इसका एक जबरदस्त असर हमारे सामाजिक ढाँचे और संस्कृति पर भी पड़ता है। हमारी असली मन्शा एक ऐसी सभ्यता खड़ी कर देने की है, जिसमें एक-दूसरे का शोषण न हो और न जिसमें शोषण के बल पर कुछ मुट्ठीभर आदमी ऊँचे दर्जे का माद्दी या भौतिक रहन-सहन बिताते हों। अगर गांधीवादी आदर्श कायम रहता है, तो उसके अन्दर मुनासिब दर्जे का माद्दी आराम सब किसी को मिलना चाहिए। इस आदर्श से ऐसी सभ्यता बनेगी, जिसमें आजकल की तरह से कुछ-कुछ बरसों के बाद लड़ाइयों की जरूरत नहीं पड़ा करेगी।

हमें उम्मीद है कि वह दिन जल्द आयेगा, जिसका इन्तजार टॉलस्टॉय करता था—उस दिन का इन्तजार जब लोग फालतू की मुसीबत और खून-खराबी से तंग आकर अपने नेताओं से कहेंगे, ''बाबा, हमें बख्शो! तुम लोग अपनी खूनी पोशाकें पहनकर आपस में एक-दूसरे की जान ले डालो। हमें इस बात से कोई सरोकार नहीं कि हमें बड़ा समझा जाता है या छोटा। हमें जिस बात से सरोकार है, वह यह कि अपनी मेहनत का फल हम बिना किसी अड़चन के भोग सकें—और यह कि सारे अमन-पसन्द लोग अपना जीवन मिल-जुलकर प्रेम के साथ बिता सकें।''

यह जो हम चाह रहे हैं, वह नामुमकिन 'धरती का स्वर्ग' नहीं है। हालात मजबूर कर रहे हैं कि लोग अपनी खुराक सम्बन्धी और दूसरी बुनियादी जरूरतें खुद पूरी कर लें। अगर इस झुकाव को जबरदस्ती रोका जायेगा, तो मुकाबले की फौजबन्दियाँ होंगी और राष्ट्र या देश आपस में एक-दूसरे का शोषण करके एक-दूसरे को बरबाद करने की कोशिश करेंगे। इसका नतीजा लाजिमी तौर पर यह निकलेगा कि इन्सान की कौम की कौम का ही लोप हो जायेगा। क्या इन्सान में इतनी अक्ल आयेगी कि दूरन्देशी के साथ सही रास्ते को देख ले?

गांधीजी ने जो रास्ता बताया, वह ऐसा नहीं है, जिस पर महज कुछ बड़े-बड़े आदमी ही चल सकें। यह इतना सीधा-सादा है कि हममें से छोटे-से-छोटा इस पर अमल कर सकता है। इस रास्ते की मुराद यही है कि अपना निजी जीवन हम उस पुकार के मुताबिक बितायें, जो हमारे अन्दर की अपनी सबसे ऊँची पुकार है। यह जरूर है कि इसके लिए आजकल की मौज-मस्ती के बजाय खुद पर काबू रखकर और खुद शिस्त या संयम से चलना होगा। हमें काम का एक ऐसा तर्ज बना लेना है, जिसका आधार सामाजिक, नैतिक और रूहानी बातों पर हो। बस, यही वह रास्ता है, जिसके जरिये से सबसे लिए राम-राज्य कायम हो सकेगा। बस, यही वह रास्ता है, जिसके जरिये से हर इन्सान को सच्ची खुशहाली और शान्ति नसीब हो सकती है।

●

भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषताएँ ये बतायी जा सकती हैं :

1. उसका विचार गाँवों की दृष्टि से किया गया हो।

2. उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट-सम्बन्ध हो, दोनों सामान्य रूप से एक ही छप्पर के नीचे रह सकते हों।

3. इस अर्थशास्त्र का विचार इस तरह किया गया होगा, जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभाव वाले लोगों में हित-विरोध, कलह और अनुचित स्पर्धा न पैदा हो।

4. अतः उसे नीति धर्म को हर कदम पर निगाह के सामने रखकर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

-गांधीजी

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट-वाराणसी